

निदान - पंचक



वैद्य शिवचरण ध्यानी

वी. आइ. एम. एस. आयुर्वेदाचार्य,
एच. पी. ए.,

रीडर - काय चिकित्सा

अनुस्नातक विभाग

गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी



713

आयुर्वेद यूनिवर्सिटी, जामनगर

१९७१

श्री. इन्दुकर्. म. व. [१५]

निदान - पंचक

कायक
श्री. म. श्री. श्री.
श्री. श्री. श्री.
श्री. श्री. श्री.



713

वैद्य शिवचरण ध्यानी
वी. आइ. एम. एस. आयुर्वेदाचार्य,
एच. पी. ए.,
रीडर - काय चिकित्सा
अनुस्नातक विभाग
गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी



गुजरात आयुर्वेद युनिवर्सिटी, जामनगर

१९७१

प्रकाशक :
श्री दि. म. जोषी
कुलसचिव
गुजरात आयुर्वेद युनिवर्सिटी

713

(मूल्य : रु. २-५० पैसा)

मुद्रक :
श्री ल. वे. सारडा
मेनेजर
आयुर्वेद मुद्रणालय

FOREWORD

The classical texts of Ayurveda contain an elaborate description of the diagnostic methods as envisaged by our ancient Acharyas. These descriptions are subjective as well as objective; they are the concepts and principles to be applied to understand the disease and the diseased; they are the broad generalisations and classifications. Today, these descriptions require to be interpreted and explained in such a way that the post-graduates and the research workers may be benefitted in learning the most scientific wisdom behind these sutras.

Shri Shiva Charan Dhyani, Reader of the Post-Graduate Section of our University, has very nicely explained the scientific meanings of Nidan Panchak in this University publication. He has raised many interesting questions about the practical application of the five principles of diagnosis and has also furnished answers to them alongwith many practical prepositions to be worked out by those, who are interested in exploring the hidden treasure of Ayurveda. His original ideas supported by the Ayurvedic principles about the Disease and it's phases, the actio-pathogenesis in relation to the symptomatology of a disease,

are worthy of appreciation. I congratulate the writer for his best piece of work embodied in this book 'Nidan Panchak'.

I am glad to place this book in the hands of the scholars, teachers and students of Ayurveda.

Jamnagar,

Dated 17-6-71.

Gordhanbhai M. Patel

Vice-Chancellor

Gujarat Ayurveda University.

अनुक्रमणिका

क्रम.	विषय	पृष्ठ
१	प्राक्कथन	१
२	साम्यं प्रकृतिरुच्यते	३
३	दोषों की रसगुणात्मक समीक्षा	८
४	विकारो धातुवैषम्यम्	१५
५	दोषक्षय अभावज, एकदेशीय या आवरणजन्य	१८
६	रोगावस्था में धातुक्षय	२४
७	निदानंत्वादिकारणम्	३१
८	निदान के कार्य	३४
९	निदान से दोषप्रकोप	३५
१०	निदान से खवैगुण्य	४३
११	निदान से दूष्यों में दीर्बल्य	४६
१२	एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति	४८
१३	निदान का व्यावहारिक महत्व	५१
१४	संतर्पण व अपतर्पण वनाम निदान	५३
१५	व्याधिजन्म पर्यन्तं शरीरे दोषाणां परिणाम परम्परा सम्प्राप्ति :	५९
१६	पूर्वरूपं प्रागुत्पत्ति लक्षणं व्याधेः	६६
१७	प्रादुर्भूत लक्षणं पुनर्लिङ्गम्	७२
१८	व्याधि किसे कहते हैं	७२
१९	रोग और लक्षण	७४

क्रम.	विषय	पृष्ठ
२०	स्रोतोदुष्टि	७७
२१	स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर	७९
२२	संग और आवरण में विभेद	८२
२३	विमार्गगमन, आशयापकर्ष, विलोमगति	८३
२४	सम्प्राप्ति और चिकित्सा का सम्बन्ध	८५
२५	गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत	९०
२६	रोगों के नाम और उनके भेदों का निदान चिकित्सात्मक महत्त्व	९५
२७	निदान पंचक से रोग विनिश्चय में सहायता	९८

प्राक्कथन

रोग-विनिश्चयार्थ रोग परीक्षा तथा रोगी परीक्षा की जाती है। रोग-परीक्षा निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय-सम्प्राप्ति से होती है। इन्हें ही निदान-पंचक भी कहते हैं। इनसे सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य के आधार पर इस पुस्तिका में केवल आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से ही विषय को प्रतिपादित किया गया है। साथ ही कुछ नवीन विचारभी प्रस्तुत किए गए हैं जिनकी पुष्टि शास्त्रवचनों से ही की गई है। शास्त्रीय विवेचन के अतिरिक्त, इस पुस्तिका में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये गए हैं :—

१. वृद्धिगत दोष ही रोगोत्पत्ति करते हैं। दोषक्षय एकदेशीय, अभावज या आवरणजन्य हुआ करता है जिसका रोगविनिश्चय में महत्व है।
२. रोगावस्था में धातुक्षय एक अनिवार्य घटना है; धातुवृद्धि एक-देशीय होती है और उसका रोगविनिश्चय में महत्व है।
३. निदान से तीन प्रकार के कार्य होते हैं—दोषवृद्धि, दूष्यों में दौर्बल्य या शैथिल्य तथा खवैगुण्य।
४. स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर है; खवैगुण्य निदान से होता है और स्रोतोदुष्टि दोषदूष्य सम्मूर्च्छना-जनित है।
५. स्रोतोदुष्टि सभी रोगों में होती है; अधिकतम व्याधियों में स्रोतोदुष्टि का 'संग' लक्षण मिलता है।
६. सम्प्राप्ति की चयावस्था में पोषक दोषोंका चय उनके कोष्ठस्थ स्थानों में आम से अवरोध उत्पन्न होने के कारण होता है। यह आम 'प्रकेप' की अवस्था में आमविष में परिवर्तित हो जाता है और विष सर्वस्रोतोनुगामी होने से स्वयंभी प्रसर करता है और इस प्रकार अवरोध हटजाने से दोष भी प्रसर करते हैं।

७. दोषदृष्य सम्मूर्च्छना एवं स्रोतोदुष्टि ही व्याधि है जिसका ज्ञान प्रत्यात्म लक्षण तथा लक्षण समुच्चय से किया जाता है । लक्षण दो प्रकार के बताए गए हैं - प्रकृति सम समवेत लक्षण जो कि प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होते हैं, और विकृति विषम समवेत लक्षण जो कि विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होते हैं ।
८. 'संतर्पण' और 'अपतर्पण' शब्दों का प्रयोग निदान के क्षेत्र में तथा स्नेहन-स्वेदनादि (षट् उपक्रमों) शब्दों का प्रयोग चिकित्सा के क्षेत्र में किया जाना चाहिए ।
९. जिन रोगों में पूर्वरूप तथा सामान्य लक्षण वर्णित नहीं हैं उनमें अव्यक्त लक्षणों को ही पूर्वरूप समझना चाहिए तथा सामान्य लक्षण बनाने चाहिए ।
१०. पयप्ति शास्त्रोद्य उद्धरणों से उपशयानुपशय का विस्तृत विवेचन कर रोगविनिश्चय करने में उपशय को ही व्यावहारिक एवं अधिक प्रचलित माना गया है ।
११. कुछ उदाहरणों से निदान पंचक का रोग विनिश्चय में महत्त्व, एवं व्यावहारिक उपयोगिता, बताया गया है ।

आभार प्रदर्शन

गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय एवं उसके कुलपति श्री मोहनलाल पी. व्यास जी का मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तिका को विश्वविद्यालयीय प्रकाशन के रूपमें प्रकाशित करने की कृपा की है । मैं उन सभी विद्वानों का भी आभारी हूँ जिनके लेखों तथा पुस्तकों से मुझे इस पुस्तिका को लिखने में सहायता मिली है ।

लेखक



साम्यं प्रकृतिरुच्यते

दोष, धातु और मूल तथा आत्मा, इन्द्रियाँ और मन शरीर के घटक हैं । स्वस्थावस्था में ये अपने प्राकृत कर्म करते रहते हैं जिससे सुख की प्राप्ति होती है । दोषादिकों का साम्यावस्था में रहना ही स्वास्थ्य है और वही धनैषणा एवं परलोकैषणा की सिद्धि का प्रथम सबल साधन है । दोष-धातु-मलों को अपेक्षाकृत स्थूलभाव तथा आत्मा-इन्द्रियाँ-मन को अपेक्षाकृत सूक्ष्म-भाव कहा जाता है । आत्मा निर्विकार है, अतः निदान-चिकित्सा में उसका दोषादिकों की तरह सम्बन्ध न होते हुए भी चैतन्य में कारण होने से, तथा आयुर्वेद के आस्तिक दर्शन होने से, उसे पूर्णरूपेण स्वीकार किया गया है । शरीर घटकों की पुष्टि आहार से होती है और आहार को पचाकर शरीर के अनुकूल बनाना अग्नि का कार्य है । अतएव 'स्वस्थ' की परिभाषा में 'समाग्नि' को भी महत्त्व दिया गया है । शरीर के धात्वादिकों को पुष्ट एवं स्थिर रखने के लिए जहाँ विभिन्न रसायनों का प्रयोग मिलता है वहाँ आचार रसायन का भी सुन्दर वर्णन उपस्थित कर शास्त्रकारोंने अप्रत्यक्षरूप से मानसिक रसायन का भी महत्त्व प्रतिपादित किया है । आहारविधि-विधानयुक्त आहार एवं अपेक्षित आचरणों से शरीर एवं मन स्वस्थ रहते हैं । स्पष्टतः मनादि-भावोंकी स्वस्थावस्था के लिए, आहार के अतिरिक्त, आचरण की श्रेष्ठता एवं तद्विषयक कर्तव्यों का पालन भी आवश्यक है । अतः केवल सुन्दर, सुव्यवस्थित एवं शरीरोपयोगी आहार से ही हम जन-स्वास्थ्य की सुव्यवस्था की घोषणा नहीं करते हैं । मानव के केवल शरीर को दृढ बनाना और उसके मनादि भावों को दुर्बल या असंयत छोड़देना अनायुर्वेदीय सिद्धान्त है । मानसिक असन्तुलन एवं तज्जन्य वैयक्तिक या सामाजिक कार्य जन-मानस के अस्वास्थ्य के सूचक हैं । हितायु, अहितायु तथा सुखायु एवं दुःखायु इस प्रकार आयु के विभाग कर व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक कार्यकलापों का परस्पर सुदृढ सम्बन्ध स्थापित किया गया है । दोषादि एवं मनादि भाव

एक ही शरीर में रहकर एक दूसरे को अनुगृहीत एवं प्रभावित करते हैं। इन सबकी साम्यावस्था बनाकर व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखना आयुर्वेद का प्रथम सिद्धान्त है। एतदर्थं विविध प्रकार के स्वस्थवृत्त परक नियमों का वर्णन मिलता है। वैकारिक अवस्थाओं में भी शारीरिक व्याधियों में मानसिक कारण तथा लक्षण और मानसिक व्याधियों में शारीरिक कारण तथा लक्षण कई स्थलोंपर वर्णित हैं। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक भावों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अपेक्षाकृत स्थूल भावों को रोगोत्पत्ति एवं चिकित्सा के प्रकरणों में भी सरलतया समझाये जासकने के कारण उनको विशिष्ट महत्व देने के लिए ही 'दोष धातु मल मूलं हि शरीरम्' कहा गया है। स्वभावतः वात-पित्त-कफ ये दोष विकृत होकर धातु, उपधातु और मलों को दूषित करते हैं। अतः विकृतिपरक दृष्टिकोण से दोषों को एक श्रेणी में तथा धातु, उपधातु और मलों को दूष्यों की श्रेणी में रखा गया है। वात-पित्त-कफ शारीरिक दोष हैं, रज और तम मानसिक दोष हैं। सत्वगुण न तो विकृत होता है और न विकृति उत्पन्न करता है, अतः उसे मानसिक दोषों में नहीं गिनाया गया है। शारीरिक और मानसिक विकारों का दोषों के स्तरपर परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए रज की वायु से और तम की कफ से समानता बताई गई है। सत्वगुण स्वयं विकृत या विकार कारक न होने पर भी आवृत होसकता है जिससे वह अपने प्राकृत कर्मों को नहीं करपाता, अतः मानसिक रोगों या लक्षणों की व्याख्या करते समय सत्वगुण की स्थिति को भी ध्यान में रखते हैं।

धातुयें सात हैं - रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। उपधातुओं में स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वक्, तथा स्नायु आते हैं। मलों में पुरीष, मूत्र तथा स्वेद प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त धातुओं के मल, यथा कफ, पित्त, स्नेह, केश, लोम, नख, श्मश्रु आदि भी हैं।

दोष	धातु	मल
१. संख्या - तीन	सात	मुख्यतः तीन (अन्यथा अनेक)
२. व्याधि-सम्बन्ध- दोष	दूष्य	दूष्य
३. स्नाग्नि - नहीं होती	होती है	नहीं होती
४. अन्योन्यान्तरण - नहीं होता	होता है	नहीं होता
५. परिभाषा - 'दूषणात् दोषाः'	'धारणात् धातवः'	'मलिनी करणात् मलाः'

धातु	उपधातु	मल
१. रस	स्तन्य, आर्तव	कफ
२. रक्त	कण्डरा, सिरा	पित्त
३. मांस	वसा, त्वक्	कर्ण, मुख, नासिका, रोमकूप, तथा जनने- न्द्रियों का मल
४. मेद	स्नायु	स्वेद
५. अस्थि	—	केश, नख, लोम
६. मज्जा	—	शरीर का स्नेह तथा नेत्रमल
७. शुक्र	—	—

उपर दी गई तालिकाओं में उदक, ओज तथा लसीका छूट जाते हैं, परन्तु इनके भी दूष्यों में स्वीकार किया गया है। बल का विशेष आधार धातुयें हैं और ओज सभी धातुओं का सारभूत अंश है, अतएव ओज को बल भी कहा गया है। प्रमेह तथा पाण्डु आदि रोगों में ओज की दुष्टि स्पष्टोक्त है। अतः ओज को भी दूष्यों के क्षेत्र में लेते हैं। कई शास्त्रकारों ने ओज को उपधातु या मल के रूप में भी स्वीकार किया है। शरीर

में उदक सर्वाधिक मात्रा में रहने वाला भाव है जिसकी गणना स्पष्टतः दोष-धातु-मलों में नहीं की गई है, क्योंकि यह सभी स्थूल घटकों में, विशेषतः रस, रक्त, लसीका, मूत्र और स्वेद में रहता है। कोष्ठस्थ रहने तक इसे उदक कहना चाहिए; धातुओं में रहने पर यह क्लेद कहलाता है; और यही उदक जब मूत्रवह स्रोतस में जाता है तब मूत्र कहलाता है; जब स्वेदवह स्रोतस में जाता है तब स्वेद कहलाता है और जब त्वचा के विदीर्ण होने पर निकलता है तब लसीका कहलाता है। संघटक तत्वों एवं स्रोतों की विभिन्नता होने से उदक के ये विभिन्न स्वरूप या परिणतियाँ बताई गई हैं। क्योंकि उदक का कार्य क्लेदन है अतएव मूत्र तथा स्वेद के भी 'क्लेदवाहनम्' 'क्लेदविधृति' कार्य बताए गए हैं। रस, रक्त और लसीका भी क्लेदन का कार्य करते हैं। इस उदक की दृष्यरूपेण दुष्ट प्रमेह, तृष्णा, जलेदर, अतिसार आदि व्याधियों में स्पष्टोक्त है। इस प्रकार उदक को भी दृष्यों की श्रेणी में लिया जाता है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, सभी दोषादिकों का पोषण आहार से होता है। आहार का पाचन महास्रोतस में अग्नि से होता है। मुख से लेकर गुदा तक की रचना को महास्रोतस कहते हैं। कहीं इसे कोष्ठ नाम से भी कहा गया है। इस महास्रोतस में अन्नवह स्रोतस तथा पुरीषवह स्रोतस समाविष्ट हैं। इसी महास्रोतस में दोषों के मुख्यस्थान निश्चित किये गए हैं। आमाशय कफका स्थान, ग्रहणी पित्त का स्थान और पक्वाशय वायु का स्थान बताया गया है। यहाँ से ये दोष अपने अन्य भेदों को भी अनुगृहीत करते हैं। इन स्थानों का आहार-पाचन, पोषक दोषों तथा सम्प्राप्ति की चयावस्था के साथ विशेष सम्बन्ध है। महास्रोतस में होनेवाली विभिन्न घटनाओं को नीचे दर्शाया गया है।

आमाशय - १. प्राणवायु द्वारा अन्न क्षेपण।

२. कफस्थान।

३. आहार-पाचन की मधुरीभाव की अवस्था।

४. फेनभूत कफ (पोषक कफ) की उत्पत्ति।

५. अन्न का किञ्चित् अम्लीभवन।

ग्रहणी - १. समान वायु की सहायता से अन्न का ग्रहणी द्वारा ग्रहण।

२. पित्तस्थान।

३. आहार-पाचन की अम्लीभाव की अवस्था।

४. अच्युतपित्त (याकृतिक पित्त) का उदीरण।

५. पोषक पित्त की उत्पत्ति।

६. आहार का प्रायः पूर्ण पाचन।

७. सार-किट्ट विभजन।

८. आहाररस का शोषण।

९. किट्टभाग का पक्वाशय के प्रति मुञ्चन।

पक्वाशय - १. मलधरा कला द्वारा जलीयांश का शोषण तथा मल का परिपिण्डित होना।

२. वातस्थान।

३. आहार-पाचन की कटुभाव की अवस्था।

४. पोषक वायु की उत्पत्ति।

५. अपान वायु की सहायता से पुरीष का मलाशय के प्रति गमन और पश्चात् गुदा द्वारा बहिर्गमन।

यद्यपि पाचन का मुख्य कार्य पित्त के उष्णगुण से होता है और पित्त मध्यस्थ है तथापि इसकी ऊष्मा का प्रभाव ऊपर और नीचे भी पड़ता है जिससे आमाशय तथा पक्वाशय में भी कुछ पाचन का कार्य होता है। मुख्य पाचन ग्रहणी में ही होता है। पाचन होनेपर आहार सार और किट्ट में विभक्त होता है। सारभाग को आहाररस कहते हैं। इसका शोषण कई धमनियों (स्रोतों)

द्वारा होता है। यह आहाररस तत्तत् स्रोतों द्वारा तत्तत् धातुओं तक पहुंचता है। धातुयें उसमें से अपने उपयुक्त अंश (पोषकभाव) ग्रहण कर लेते हैं जिनपर तत्तत् धात्वग्नि कार्य करती है और इस प्रकार धातुओंका निर्माण (पोषण) होता है। आहार रस के शोषित होजाने पर वचे हुए भाग (किट्ट) में से मलधरा कला उदक का शोषण करदेती है। उदक की यहाँ से शोषित राशि और अंश ही (पोषक मूत्र) मूत्रका निर्माण करते हैं। रस और रक्त के साथ रहने वाला उदक (क्लेद) आहार रस के साथ शोषित उदक है और मलधरा कला द्वारा शोषित उदक भी शरीर में परिभ्रमण कर मूत्रमार्ग से बाहर निकलता है। १० अंजलि उदक में से ४ अंजलि उदक मूत्रद्वारा बाहर निकलता है। पोषक मूत्र के शोषित होने के बाद पुरीष अपानवायु द्वारा मलाशय में भेजाजाता है जहाँ से वह गुदा द्वारा बाहर निकल जाता है।

जो भाव शरीर में हैं उन्हें पोष्य (स्थायी) कहते हैं और आहार से उनके पोषणार्थ जो भाग ग्रहण किए जाते हैं उन्हें पोषक (अस्थायी) कहते हैं। इस आधार पर ही पोष्य दोष, पोषक दोष, पोष्य धातु, पोषक धातु तथा पोष्य मल एवं पोषक मल ये नाम दिये गये हैं।

दोषों की रस - गुणात्मक समीक्षा

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय - इन छ रसों के साथ दोषों का सम्बन्ध नीचे दीगई तालिका द्वारा स्पष्ट होजाता है।

गुण	रस	वर्धक	शामक
स्निग्ध, गुरु, शीत	मधुर	कफ	वात, पित
" " उष्ण	लवण	कफ	"
" लघु "	अम्ल	पित	"
" " "	कटु	वात पित	कफ
रूक्ष, लघु, शीत	तिक्त	,	" पित
" " "	कषाय	"	" "

इस तालिका से एक बात स्पष्ट है कि केवल कफ को बढ़ाने वाला मधुररस तथा केवल कफ को शान्त करने वाला कटुरस है। इसी प्रकार तिक्त और कषाय केवल वातवर्धक तथा लवण और अम्ल केवल वात शामक हैं। रसों के केवल एक दोषपर प्रभाव देखने के इस दृष्टि कोण से केवल पित्तवर्धक या पित्तशामक एकभी रस नहीं है; ये वातपित्त या कफपित्त वर्धक या शामक हैं। यह इसलिए कि षट् रस युक्त आहार जब महास्रोतस में जाता है तब उसका पाचन पित्त (अग्नि - उष्मा) से होता है और यह सारी पाचन क्रिया विभिन्न स्थलों पर विभिन्न माध्यमों में होती है। यह माध्यम उष्णगुण के कार्य करने में सहायक होता है, अतः प्रथम मधुर रस का मृदु एवं मन्द पाचन प्रारम्भ होता है कारण कि वह शीत है जो कि उष्ण के विपरीत है। पश्चात् लवण रस का उष्ण गुण सम्मुख आता है और इसीलिए कफस्थान आमाशय में भी पाचन की प्रक्रिया कुछ द्रुततर होजाती है और मधुरीभाव की अवस्था अम्लीभाव में परिणत होने लगती है। ग्रहणीमें, जो कि पित्त का अपना स्थान है, अम्लगुण, उष्णगुण एवं आहार की अम्लीभाव की अवस्था पाचन का सुन्दर माध्यम तैयार करते है अतः इसी स्थानपर प्रायः पूर्ण पाचन होजाता है। पक्वाशय में भी कुछ सीमित अंश में पाचन होता है, तदर्थ उष्ण गुण युक्त कटु रस माध्यम को बनाये रखता है। पश्चात् शीत गुण युक्त कषाय-तिक्त पाचनकर्म के लिए अनुकूल वातावरण नहीं रहने देते, साथ ही आहार के पूर्ण पाचन हो जाने के कारण भी पाचन प्रक्रिया रुक जाती है। इस प्रकार आहार-पाचन की प्रक्रियाओं में कफ और वात अप्रत्यक्ष रूप से पित्त की सहायता करते हैं और इनकी विकृति से अग्नि मंद हो जाती है; निदान से या पित्त के स्वयं क्षीण होने पर तो अग्नि मंद होती ही है। इस प्रकार प्रायः सभी रोगों में अग्निमंदा की कल्पना की गई है। सभी धात्वग्निर्या कोष्ठाग्नि से पोषित एवं प्रभावित होती है। अतः धातुओं में भी पाचन (धातुपाक) की प्रक्रिया को नियमित रखने के लिए रस-गुणात्मक माध्यम चाहिए। वहाँ भी 'उष्ण' का विशेष

महत्व है क्योंकि धातुपाक न्यूनाधिक मात्रा में साथ चलता रहता है जिससे शक्ति बनी रहती है। इस दृष्टिकोण से भी मधुर तथा लवण का विपाक मधुर बताकर लवण (उष्णगुण) को, अम्ल का विपाक अम्ल (उष्णगुण) ही बनाकर, तथा कटु, तिक्त, कषाय का विपाक कटु (उष्णगुण) बताकर कटु को, परिष्कृत रूप में उपस्थित किया गया है। रसात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर सभी धातुओं के पोषाणांशों में मधुर रस अवश्य और अधिक रहता है। अतः चरक ने (सूत्रस्थान-२६) मधुर रस के कार्यों में ही 'तत्र मधुरो रसः शरीर सात्म्यात् रस रुधिर मांस मेदोस्थि मज्जौजः शुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रिय प्रसादनः बल वर्णकरः' लिखकर धातु पोषण निर्माण में मधुर रस को महत्व दिया है। मधुर भावों का धात्वग्नियों द्वारा ठीक पाचन हो, एतदर्थ लवणों की आवश्यकता रहती है। मधुर भावों में धातु पोषक सभी भाव गृहीत हैं। यह निर्माणात्मक या पोषणात्मक प्रक्रिया है। परन्तु शरीर में धातुओं से शक्ति उत्पन्न होती है जिससे हम अपना देनन्दन कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया (Ketabolism) में भी अग्नियों का कार्य है जो कि अम्ल और कटु भावों से नियमित रहता है। इस प्रकार रसों का दोषों से, दोषों का आहार पाक तथा धातुपाक से और इन सब का अग्नि से सम्बन्ध स्थापित कर प्रकृति और विकृति में अग्नि का महत्व प्रतिपादित किया जाता है। सभी धातुओं के पोषण के लिए आहार रस का स्रोतों द्वारा निर्वाध रूप से धातुओं तक पहुँचना भी अत्यन्त आवश्यक है। स्रोतों में खवैगुण्य उत्पन्न होने पर ही पूर्णसम्प्राप्ति पूर्वक रोग उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार वातादि शारीरिक दोषों तथा रजादि मानसिक दोषों का, रस रक्तादि तथा मूत्र पुरीषादि दूष्यों का, स्रोतों का एवं अग्नि का सम्यक् कार्य होने पर स्वास्थ्य बना रहता है और इनमें विकृति आने पर रोग उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि चिकित्स्य पुरुष सत्व, आत्मा और शरीर का सामूहिक रूप है जिसकी व्याख्या केवल भौतिक, रासायनिक या लाक्षणिक अथवा द्रव्यत, गुणतः, कर्मतः मात्र से ही पूर्णतः नहीं की जा सकती है। उसका सत्व और आत्मा भी कुछ हैं जिनका विचार करना होता है। सरलता के लिए स्थूलभावों से विचार प्रारम्भ करना बुरा नहीं है परन्तु सूक्ष्मभावों को भुला देना ठीक नहीं है। अतएव मनुष्य की प्राकृतिक एवं वैकारिक अवस्थाओं को समझना कठिन कार्य है। परन्तु सरलता के लिए दोष, धातु, मलादिकों के वर्गों के रूप में स्वीकृत कर शास्त्र के समझने का प्रयत्न किया जाता है।

द्रष्टव्य स्थल

१. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ च० सू० ९/४
२. निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूत गुणेन्द्रियैः ।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ च. सू. १/५६
३. समदोषः समाग्निश्च समधातुमल क्रियाः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यमिधीयते ॥ सू. सू. १५
४. आचार रसायन-च. चि. अध्याय-१ पाद-४ श्लोक-३०/३५
५. हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम् । च. सू. १/४१
६. धातुसाम्य क्रियाचोक्ता तत्रस्यास्य प्रयोजनम् । च. सू. १-५३
७. दोष धातु मल मूलं हि शरीरम् । सु. स. १५/३
८. वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोष संग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ च. सू. १/५७
९. रसासृक् मांस मेदोस्थि मज्ज शुक्राणि धातवः । अ. ह. सू. १/१३
१०. रसात् स्तन्यं ततो रक्तं, असृजः कण्डरा सिरा ।

- मांसात् वसा त्वचः षट्च मेदसः स्नायु संभवः ॥ च. वि. १५/१७
११. कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नख रोम च ।
नेत्रविट्त्वक्सु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः सु. सू ४६/५२७
१२. रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोथ विशदः खरः ।
विपरीत गुणैर्द्रव्यैरुतः संप्रशाम्यति ॥ च. सू. १/५८
१३. सस्वेदमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ ,, /६०
१४. गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ ,, /६१
१५. स्वाद्वम्ल लवणाः वायुं कषाय स्वादु तिक्त काः ।
जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषाय कटु तिक्त काः ॥ ,, /६६
१६. अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसंधा पृथक् विधाः । च. नि. १३/९
१७. मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोध दुःखशब्दप्रजागरैः ॥ च. वि. २/८
१८. सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमाश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोयं संप्रकाशितः ॥ च. सू. १/४६-४७
१९. आमाशय गतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम् ।
पक्वः सर्वाश्रयं पश्चाद्दमनीभिः प्रपद्यते ॥ च, वि. २/१८

“ In all civilised countries, more and more attention is now being paid to maintenance of health, a far different problem from diagnosis and treatment of ill health.”

“ Further, the form of physiologic study must apply to man, living and working day by day, rather than to basal conditions, the use of which has become almost a fetish with investigators in this field; in the pursuit of accuracy, they have often lost touch with reality. ”

Pathologic Physiology—Sodeman

Third edition, page-321

“ Just as the physical growth of each person depends on an adequate and balanced supply of appropriate food stuffs, so does emotional growth depend on the receipt of proper psychologic nutrients. ”

“ Just as invading bacteria influence multitudinous bodily reactions, so do emotions possess the capacity to exert force and, thereby, alter behaviour including certain of the biochemical processes of the body. ”

Principles of Internal Medicine, Page-3
Harrison/Fifth edition
International Students edition.

“The patient is no mere collection of symptoms, signs, disordered functions, damaged organs and disturbed emotions. It is human, fearful and hopeful, seeking relief, help and assurance.”

Ibid, Page-5

—*—

विकारो धातु वैषम्यम्

दोषादिकों का प्राकृत परिमाण मे एवं प्राकृत गुणयुक्त रहकर प्राकृत कर्म करते रहना साम्यावस्था है; इसी को स्वास्थ्य कहते हैं। इनका विषम होना ही 'रोग' है। यह वैषम्य दो प्रकार का बताया गया है—क्षय और वृद्धि: 'दोष-धातु-मलों' के क्षय और वृद्धि के लक्षण वर्णित हैं। 'समा:' पालयितव्या क्षीणा: वर्षचित्तव्या: तथा 'वृद्धा: ह्लासचित्तव्या:' से सम दोषादिकों को साम्यावस्था में बनाये रखना तथा बड़े हुए दोषों को घटकर और घटे हुए दोषों को बढ़ाकर साम्यावस्था में लाना आयुर्वेद का सिद्धांत है। 'सामान्य वृद्धि कारणम्' से वृद्धिकरके और 'ह्लासहेतु' से क्षय करके क्षीण एवं वृद्ध दोषों विशेषस्व' की साम्यावस्था बनाई जासकती है। इन सब वर्णनों से प्राप्त वैषम्य के ज्ञान का निदान चिकित्सा में उपयोग (applied aspect) देखना होगा। इसे स्पष्ट रूप में सरलतया समझने के लिए कुछ स्थापनायें की जा रही हैं -

१. रोगोत्पत्ति में वृद्धिगत दोषों का ही कर्तृत्व है, क्षीण दोषों का नहीं। दोषक्षय को एक स्थानीय, आवरणजन्य या आहरसम्पदाभावजन्य ही समझना चाहिए।
२. रोगों में धातुओं का क्षय ही रहता है। रोगों में धातु वृद्धि एकस्थानीय ही होती है। मलों के साथ भी यही बात है। इस स्थापना में कुछ अपवाद भी हैं।

रोगोत्पत्ते में वृद्धिगत दोषों का ही कर्तृत्व

(१) सम्प्राप्ति के बिना रोग नहीं होता है और सम्प्राप्ति चय से प्रारम्भ होती है। चय बड़े हुए दोषों का ही सम्भव है, क्षीण दोषों का नहीं

दोषों का चय उनके कोष्ठस्थ स्थानों में होता है। अचय प्रकोप से भी अल्पकाल में या अल्पमात्रा में चय ही समझा जाता है।

(२) रखास, कास, ज्वर आदि जितने भी रोगों का शास्त्रों में वर्णन मिलता है, उनमें मुख्य दोषों को देखने पर और उन रोगों के निदानों का उन दोषों पर क्या प्रभाव पड़ेगा—इसका विचार करने पर एक भी रोग ऐसा नहीं है जिसके निदानों से उस रोग को उत्पन्न करने वाले दोष का क्षय हो सके। रोगों के वातिक-पैतिक-कफज आदि भेदों के निदानों से भी दोषों की वृद्धि ही हो सकती है।

(३) चरक ने वायु के नानात्मज विचारों को बताकर 'तं मधुराम्ल लवण स्निग्धोष्णै रुपक्रमरुपक्रमैत' लिखा है। इसी प्रकार पित्त के नाना-त्मज विकार बताकर 'तं मधुर तिक्त कषाय शीतै रुपक्रमैरुपक्रमैत' और कफ के नानात्मज विकार बताकर 'तं कटु तिक्त कषाय तीक्ष्णोष्ण रुक्षैरुपक्रमैरुपक्रमैत' लिखा है। नानात्मजविकार एक ही दोष से उत्पन्न होने वाले विकार हैं। उन विकारों की उत्पत्ति उस दोष के बढ़ने पर ही होती है, अतएव उनकी चिकित्सा में उस दोष को शान्त करने वाले उपाय ही बताए गए हैं; उस दोष को बढ़ाने वाला एकभी उपाय नहीं बताया गया है (च० सू० २०)।

(४) चरक ने मधुरादि रसों के कार्यों एवं उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियों को बताया है (च० सू० २६)। वहाँ पर 'मधुरो रसः कफजान् विकारानुपजायति', 'लवणो रसः पित्ताजान् विकारानुपजनयति' तथा 'कटु (तिक्त कषाय) रसः मारुतजान् विकारानुपजनयति' लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि मधुरादि रस जिन दोषों को

बढ़ाते हैं उन्हीं के रोग उत्पन्न करते हैं; किसी दोष को घटाकर रोग उत्पन्न नहीं करते।

(५) चाहे वे सामान्यज विकार हों या नानात्मज विकार, सबकी चिकित्सा में संशोधन और संशमन बताए गए हैं। स्पष्टतः संशोधन या संशमन वृद्ध दोषों का ही हो सकता है, क्षीण दोषों का नहीं। किसी भी रोग के प्रकरण में एक भी चिकित्सा किसी भी दोष को बढ़ाने की नहीं बताई गई है।

(६) मिथ्या आहार से तो रोगों के प्रकरण में दोषवृद्धि स्पष्ट है। मिथ्या विहार से भी दोषों की वृद्धि ही बताई गई है, यथा—दिवास्वप्न और अचिन्ता से कफ की वृद्धि, रात्रिजागरण, अत्यध्वगमन एवं वात-सेवन से वातवृद्धि तथा धूप में चलने या अग्नि के सेवन से पित्तवृद्धि बताई गई है।

(७) मानसिक कारणों से भी दोषों की वृद्धि ही बताई गई है, यथा—चिन्ता, एवं शोक से वातवृद्धि, क्रोध से पित्तवृद्धि आदि।

(८) चय प्रकोप प्रशमाः वायो र्गीष्मादिषु त्रिषु ।

वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥ अ० ह० सू० १२

इस से भी ऋतुओं के साथ दोषों के चय, प्रकोप और प्रशम का ही संबंध बताया गया है; दोषों पर ऋतुओं के क्षयात्मक प्रभाव का संकेत नहीं मिलता है।

(९) रोगों के उपद्रवों या असाध्य लक्षणों से भी दोषवृद्धि का ही सम्बन्ध बैठता है, दोषक्षय का नहीं। किसी भी रोग में इसे देखा जा सकता है। रोगावस्था में या अन्यथा भी धातुक्षय से वात की वृद्धि ही बताई गई है।

(१०) महर्षि चरकने १३ प्रकार के ऐसे सन्निपातों का भी वर्णन किया है जो कि दोषवृद्धि से ही होते हैं । च० सू० २७ ।

पूर्वोक्त आधारों पर निदान और चिकित्सा के दृष्टिकोण से रोगों में दोषवृद्धि का ही महत्व परिलक्षित होता है । परन्तु शास्त्रों में सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर दोषक्षय को भी उतना ही महत्व दिया गया है जितना दोषवृद्धि को, ऐसा क्यों ? । इसके अतिरिक्त दोषक्षय का निदान चिकित्सा में कुछ महत्व है या नहीं ? । ऐसे प्रश्न स्वाभाविक हैं । 'वैषम्यं हि पुनर्घातूनां वृद्धिं ह्यासमनम्' से, दोषों के क्षय के लक्षणों को वर्णित करने से, 'क्षीणाः वर्धयितव्याः' से, 'ह्यासहेतुविशेषश्च' से तथा चरकसूत्रस्थान १७ वें अध्याय में क्षीण, सम एवं वृद्धभावों का रोग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से दोषक्षय को शास्त्र में महत्व अवश्य दिया गया है, परन्तु रोगों के प्रकारों में इस महत्व का या इसकी व्यावहारिक उपयोगिता (applied aspect) का वर्णन नहीं मिलता है । कारण यह है कि वर्णित रोग दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जनित हैं, केवल विकृत दोष के लक्षण मात्र नहीं हैं । दोषक्षय का लक्षणों से सम्बन्ध इसलिए है कि अभावजन्य रोगों (Deficiency Diseases) में कुछ दोषक्षय के लक्षण मिलते हैं, दोषवृद्धि के भी मिलते हैं । नीचे दोषक्षय की सीमा एवं उसकी उपयोगिता पर विचार करेंगे ।

दोषक्षय-अभावज, एकदेशीय या आवरणजन्य

(१) दोषादिकों का आहार से (किट्ट से) पोषण होता है । प्रमिताशन, अनशन या आहार सम्पदाभाव के कारण धातुओं के साथ साथ दोषों पर भी क्षयात्मक प्रभाव पड़ता है । इनसे धातुक्षय के बाद वात-प्रकोप होता है, परन्तु कफ और पित्त के क्षय के लक्षण मिल सकते हैं और सम्यक् आहार लेना ही ऐसी स्थितियों में चिकित्सा

है । रोग की व्यापक परिभाषा 'तद्दुःख संयोगाः व्याधयः' के अनुसार इन क्षयात्मक लक्षणों को भी रोग कह देते हैं । परन्तु लक्षण और रोग में कुछ भी अन्तर करना अभीष्ट ही, जैसा कि होना चाहिए, तो सम्प्राप्ति रहित दोषप्रकोपजन्य लक्षणों को केवल लक्षण और सम्प्राप्ति युक्त (दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जन्य) लक्षणों को रोग (या रोग जापक) कहना चाहिए । इस आधार पर अभावज दोषक्षय से मात्र लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

(२) 'सामान्यं वृद्धि कारणम्' तथा 'ह्यास हेतुविशेषश्च' सिद्धान्त प्रवृत्तिपूर्वक हैं, निवृत्तिपूर्वक नहीं । इसलिए आयुर्वेद में स्पष्टतः अभाव को स्वीकृत नहीं किया गया है । चिकित्स्य पुरुष, उसके रोग, औषध आदि सभी भावात्मक हैं और इन्हीं का महत्व होने के कारण तथा चिकित्सा में अभाव का अपेक्षाकृत कम महत्व होने से ही अभाव को स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया गया है । परन्तु प्रमिताशन, अनशन, असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग में अयोग तथा हीनयोग, निदान परिर्जन एवं अपथ्य विधान आदि, से अप्रत्यक्षतः अभाव को भी स्वीकार किया गया है । अभावजन्य रोगों (Deficiency Diseases) में शरीर में जिन घटकों की कमी होती है उनकी पूर्ति करना ही चिकित्सा है ।

(३) 'संग' प्रधान व्याधियों में दोष के एकदेशीय क्षय के लक्षण मिल सकते हैं, यथा - ज्वर में ऊष्मा के द्वारा ज्वरोत्पत्ति और संग के कारण आमाशय में न जा पाने से अग्निमान्द्य व्याख्येय है । दोषक्षय के इस एकदेशीयक्षय पक्ष से रोगों के लक्षणों को, सम्प्राप्ति को दृष्टि में रखकर, समझाने में तथा रोग विनिश्चय में सहायता मिलती है । अतएव दोषक्षय को भी समान महत्व दिया गया है ।

- (४) दोषों की आशयापकर्ष की स्थिति में भी दोष के एकदेशीय क्षय के लक्षण मिल सकते हैं ।
- (५) आवरण के प्रकरण में दोष और दूष्यों के विभन्न आवरण और उनसे उत्पन्न लक्षणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आवरण के वृद्धयात्मक लक्षण मिलते हैं और आवृत अपना प्राकृत कर्म नहीं करपाता है । 'कर्मणः प्राकृतात् हानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' आवरण के प्रकरण में ही स्पष्ट परिलक्षित होता है । वहाँपर भी चिकित्सा तो आवरण की ही की जाती है परन्तु लक्षण समुच्चय की व्याख्या के लिए वहाँपर दोषक्षय के लक्षण भी ध्यान में रखने पड़ते हैं । इस प्रकार आवरण के प्रकरण में दोषक्षय के लक्षणों का रोग विनिश्चयात्मक महत्व है ।
- (६) 'अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति' से पित्त और अग्नि में अभेद स्वीकार किया गया है । पित्त के उष्ण गुणको ही अग्नि का कार्य करनेवाला स्वीकार करते हैं । (भस्मक और मेदोरोग को छोड़कर) प्रायः सभी रोगों में अग्निमांद्य की स्थिति एवं तद्योतक लक्षण रहते हैं । इस आधार पर अग्निमांद्य से अग्नि (पित्त) का क्षय धोतित है । अग्नि की प्राकृत स्थिति को बनाये रखने के लिए समुचित आहार का उचित मात्रा एवं काल में उपयोग आवश्यक है । रोग निदान में आहार का असम्यक् उपयोग बहुत स्थलों पर वर्णित है और उससे कई व्याधियाँ होती हैं । मिथ्या आहार से तथा कुछ मानसिक कारणों से अग्निमांद्य उत्पन्न हो जाता है । मिथ्या आहार विहार से जिस दोष की वृद्धि होती है उस दोष से भी अग्नि पर प्रतिकूल

प्रभाव पड़ता है । मधुर, अम्लादि कुछ रसों के अधिक उपयोग से अग्नि के कार्य के माध्यम (Media) में भी अन्तर आने से पाचन का कार्य ठीक नहीं होपाता । स्वयं पित्त के द्रव, स्निग्ध एवं अम्लगुण बढ़कर उसके उष्णगुण को ठीक कार्य नहीं करने देते हैं । इस प्रकार अग्निमांद्य को दोषक्षय की श्रेणी में रखकर रोगों में उसकी स्थिति को समान महत्व देने के लिए भी दोषक्षय को समान महत्व दिया गया है । अग्निमांद्य का तो रोग-विनिश्चयात्मक एवं चिकित्सात्मक दोनों महत्व हैं । परन्तु जहाँ अरुचि, अग्निसाद आदि लक्षण कफ या वायु के विकारों में मिले वहाँ उन्हीं दोषों की चिकित्सा का महत्व है । ग्रहणी के प्रकरण में (च. चि. १५/२०६-२१०) कई अवस्थाओं का अग्निमांद्यात्मक प्रभाव तथा उनकी चिकित्सा बताई गई है । उन में सीधे ही पित्त के उष्णगुण को क्षीण करनेवाली अवस्थायें न होकर दूसरे दोष को बढ़ाकर पित्त (अग्नि) पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रोगावस्थायें हैं । उसी प्रकरण में 'दोषवृद्धया तु मन्देग्नौ' कहकर बड़े हुअे दोषों का अग्नि पर प्रतिकूल प्रभाव बताया गया है । उपर्युक्त विवरण से किसी भी प्रकार से उत्पन्न अग्निमांद्य से अग्नि के क्षीण लक्षणों को रोगों की सम्प्राप्ति बताते समय ध्यान में रखा जाता है । यह भी दोषक्षय बताने का एक महत्व पूर्ण कारण जात होता है ।

- (७) चरक ने सूत्रस्थान १७ वें अध्यायमें दोष-धातु-मलों के कुछ क्षयकारक हेतु बताए हैं । उन से धातुओं पर तो आवश्यक रूप से क्षयात्मक प्रभाव पड़ता है; दोषोंपर उनका प्रभाव समझने के लिए तालिका प्रस्तुत है ।

	क्षय हेतु	वात	पित्त	कफ
अभावात्मक कारण	१. रूक्ष अन्न पान	वृद्धि	क्षय	क्षय
	२. प्रमिताशन	"	"	"
	३. अल्पाशन	"	"	"
	४. अनशन	"	"	"
स्पष्टतः क्षय कारक	५. कफातिवर्तन	—	—	"
	६. शोणितातिवर्तन	"	"	"
	७. शुक्रातिवर्तन	"	—	"
	८. मलातिवर्तन	"	—	—
मानसिक कारण	९. चिन्ता	"	"	"
	१०. भय	"	"	—
	११. शोक	"	"	"
प्रभावकारक कारण	१२. वात	"	—	—
	१३. आतप	—	वृद्धि	"
	१४. काल	वृद्धि/क्षय	वृद्धि/क्षय	वृद्धि/क्षय
	१५. भूतोपघात	"	"	"
	१६. प्रजागरण	वृद्धि	क्षय	क्षय
	१७. व्यायाम	"	वृद्धि	"

इस तालिका में जो हेतु बताए गए हैं उन से वात की वृद्धि ही हो सकती है, क्षय नहीं। इसका समाधान श्री चक्रपाणिदत्तने 'अत्र वायु क्षयहेतुर्नोक्तो विलक्षणत्वात्, स चाचिन्तन दिवास्वप्नादि-भिर्ज्ञेयः; किवा अनशनात् किट्टाभावः, ततश्च किट्टरूपस्य वात-स्याप्यनुत्पादात् क्षयोज्ञेयः' कहकर किसी तरह से भी प्रश्न को शान्त करने का प्रयत्न किया है। इस तालिका में दिए गए अभावात्मक हेतुओं से एवं प्रत्यक्षतः शरीर से बाहर निकलने पर दोषादिकों का क्षय सरलतया व्याख्येय है। अन्य कारणों से भी अप्रत्यक्षतः

पित्त और कफ पर क्षयात्मक प्रभाव पड़ सकता है और उससे कुछ अल्पकालिक लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु रोगोत्पत्ति में तो वातवृद्धि होकर ही इनसे रोग होसकतें हैं, इसका स्पष्टीकरण सामान्यज या नानात्मज विकारों के निदानों को देखने से हो जाता है। फिर भी इन हेतुओं से क्षयात्मक लक्षणों की उत्पत्ति में कभी कभी दोषक्षय व्याख्येय बनता है, अतः दोषक्षय को भी महत्व दिया गया है।

(८) द्रुत्वणैकोत्वणैः षट् स्युर्हीनमध्यादिकैश्च षट् ।

समैश्चैको विकारास्तं सन्निपाता स्त्रायोदशा । च. सू. १७ । ४१.

इस श्लोक से दोषों के हीन वृद्धयादि क्रमसे १३ प्रकार के सन्निपातों का संकेत है। परन्तु इसीसे आगे ४५ वें से ६१ वें श्लोक तक पूर्वोक्त श्लोक के उदाहरणार्थ जो वर्णन मिलता है उसमें आशयापकर्ष तथा संग या आवरण प्रधान घटनायें हैं। एक प्राकृत दोष भी यदि आशयापकर्ष या संग के कारण एक स्थान पर आजाय या रुकजाय तो तत्रस्थ अपने अंशों को बढ़ाकर वह रोग उत्पन्न करता है। इसमें भी रोग तो दोषवृद्धि से ही होता है परन्तु एकदेशीय क्षय परिलक्षित होता है। इस प्रकरण में चक्रपाणिदत्ताजी की टीका से भी यही बात सुस्पष्ट हो जाती है।

(९) दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथावलम् ।

क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वन्ते ॥ च. सू. १७।६२

'लिङ्गं स्वं जहातीत्यनेन क्षीणनां प्रकृति लिङ्ग क्षय व्यतिरिक्तं विकार कर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति; यतो वृद्धाः उन्मार्ग-गामिनो दोषाः दूष्यं दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात् । चक्रपाणिः । चक्रपाणि के इस मत से असहमति

प्रगट करते हुए आचार्यश्री रामरक्षा पाठकजी ने अपनी कायचिकित्सा नामक पुस्तक में लिखा है कि " ऐसे अनेक विकार दोषों के क्षय होने पर ही होते हैं जिसका किसी अन्य दोष की वृद्धि के लक्षणों में वर्णन उपलब्ध शास्त्रों में नहीं मिलता, जैसे— मंद-चेष्टता, अल्पवाक्त्व, अप्रहर्ष, मूढसंज्ञता तथा अग्निवैषम्य—ये वातक्षय में ही होते हैं । इसी प्रकार मन्दोष्मता, निष्प्रभता, स्तम्भ और अनियमित तोद ये पित्ताक्षय में ही तथा अन्तर्दाह, आमाशय शून्यता, संधिशैथिल्य और श्लेष्माशय शून्यता ये कफ के क्षय में ही होते हैं " पेज-१३७ । ये लक्षण जिनरोगों में मिलते हैं वे दोष-वृद्धि से होते हैं यथा—अप्रहर्ष ज्वर के पूर्वरूप में— अन्तर्दाह, अन्तर्वेग ज्वर में, निष्प्रभता पाण्डु में, स्तम्भ या अनियमित तोद वात-विकारों में आदि । परंतु जहाँ ये केवल अल्पकालिक लक्षण मात्र हों वहाँ दोषक्षय ही कारण है । आवरण के प्रकरण में तथा संग से भी ये लक्षण एकदेशीय क्षय के रूप में मिल सकते हैं । चक्रपाणिदत्त का भी यही अभिप्राय है कि दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जनित विकारोत्पत्ति में क्षीणदोषों का कर्तृत्व नहीं है, एकदेशीय क्षय के सम्बन्ध में उनका विरोध नहीं है ।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है कि रोगोत्पत्ति (दोष दूष्य सम्मूर्च्छना) में वृद्धिगत दोषों का ही कर्तृत्व है, क्षीण दोषों का नहीं । दोषक्षय को अभावज, एकदेशीय या आवरणजन्य समझना चाहिए और रोग विनिश्चय में उसकाभी महत्व है ।

रोगावस्था में धातुक्षय

(१) धातुपोषण आहार से होता है । कोष्ठाग्नि आहार को पचाकर आहाररस में परिणत करती है । यह आहार रस कोष्ठा से शोषित होकर सभी धातुओं में जाता है । उसमेंसे धातुयें अपना अंश ग्रहण

करलेती हैं जिसपर धात्वग्नियाँ कार्य करती हैं और उसे धातु के अनुकूल बनाती हैं । कोष्ठाग्नि ही धात्वग्नियों को पोषित एवं प्रभावित करती है । प्रायः प्रत्येक रोग में अग्निमांद्य होता है । कोष्ठाग्नि के मन्द होने से धात्वग्नियाँ भी मंद होंगी और धातुओं का पूर्ण निर्माण न होने से धातुक्षय होगा ।

(२) सभी धातुओं के क्षय के लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं । उनके आधार पर एक संक्षिप्त पत्रक (Proforma) निम्नलिखित रूप से तैयार किया जासकता है ।

धातुक्षय का संक्षिप्त प्रोफार्मा -

१. स्फिक् उदर स्तन गण्ड	} शुष्कता —	मांस तथा मेदः क्षय ।
कार्श्य -		मेदः क्षय । (अ. सं. सू. १८/१०)
२. { त्वक् रोक्ष्यम् - गात्र रोक्ष्यम् -	रक्त क्षय (च. सू. १७/६५) मांस क्षय (सु. सू. १५/८)	
	मेदः क्षय " "	
	अस्थि क्षय " "	
३. सिराशैथिल्यम् - धमनीशैथिल्यम् -	रक्त क्षय } मांस क्षय }	" "
४. श्रमः -	रस क्षय (अ. सं. सू. १९/१०) मांस क्षय (च. सू. १७/६६) मेदः क्षय (अ. सं. सू. १९/१०) अस्थि क्षय (च. सू. १७/७) ओजः क्षय (सु. सू. १५/२५) (ओजो विलस)	

५. संधिस्फुटनम् - मांस क्षय (च. सू. १७/६७)
 संधिशून्यता - मेदः क्षय (सु. सू. १५/६)
 संधिशैथिल्य - अस्थि क्षय (च. सू. १७/६७)
 ६. शरीर भारहानि - सर्वधातुक्षय

इस प्रोफार्मा के आधार पर देखा जाय तो सभी रोगियों में धातुक्षय के लक्षण मिलेंगे। इस पर लेखक ने १०० रोगियों का और पश्चात् श्री कृष्णदत्त शर्मा ने (१९६९में) अपने स्नातकोत्तर महानिबंध के लिये १०० रोगियों का अध्ययन किया। इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई कि रोगावस्था में धातुक्षय अवश्य मिलता है। श्री गणपतलाल शर्मा ने भी १९६२ में अपने स्नातकोत्तर महानिबंध में इस सम्भावना की ओर संकेत किया था।

(३) सभी रोगों की सम्प्राप्तियों में दूष्य स्थिति ज्ञापक वर्णन नहीं मिलता है। जिन रोगों में दूष्यों की स्थिति बताने वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है, उन्हें उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है —

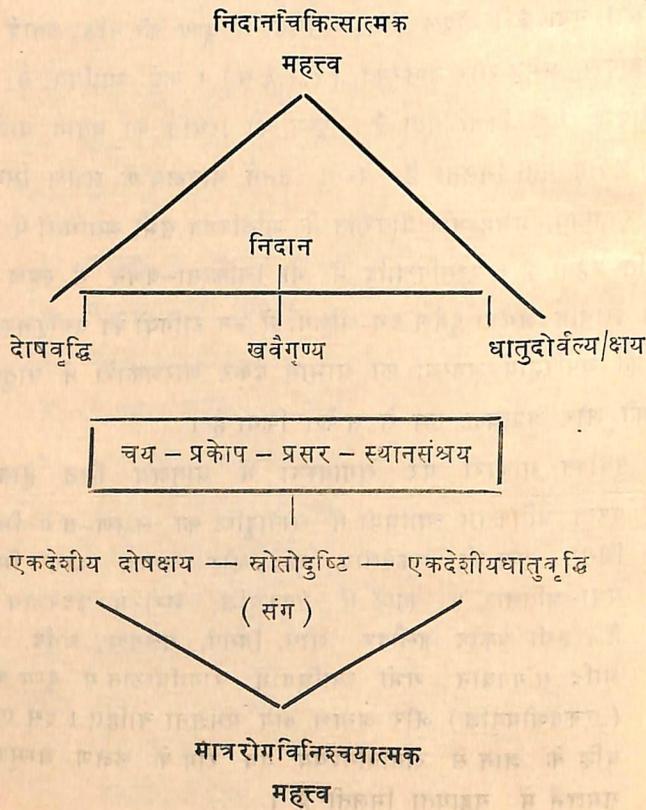
- | | | |
|--|--------|-------|
| १. लोहितं च स्व प्रमाणमतिवर्तते । | च. नि. | २/४ |
| २. बह्ववद्धं मेदो मासम् । | च. नि. | ४/७ |
| ३. वृद्धेन रक्तेनावारितः । | च. चि. | २६/१० |
| ४. स क्षतः क्षीयते त्यर्थं तथा शुक्रोजसो क्षयात् । | च. चि. | ११/१२ |
| ५. सोल्परक्तः समेदस्कः । | च. चि. | १६/६ |
| ६. रसादीनां घातूनां चोपशोषणौ । | च. चि. | १७/८ |
| ७. अपां क्षयात् हि तृष्णा । | च. चि. | २२/२५ |
| ८. तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति । | च. चि. | ६/८ |
| ९. तयोपशोष्यासृक् । | च. चि. | २८/३८ |
| १०. रसादींश्चोपशोषयेत् । | च. चि. | २८/६१ |
| ११. रस नामानमन्ववेत्य । | च. नि. | १/२० |
| १२. आर्तवमुपदृणद्धि । | च. नि. | ४/१४ |

१३. त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते । च. नि. ५/६
 १४. ओजसो गुणान् संक्षोभ्य । च. चि. २४/२६
 १५. शुक्रं संदूषयन्त्याशु । च. चि. ३०/१३८
 १६. दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् । च. चि. २१/२२
 १७. शोणितादिषु धातुषु अतिप्रदुष्टेषु । च. चि. २१/१६
 १८. कफासृक् पित्तानि संदूषयतीह वायुः । च. चि. १२/८
 १९. सौक्ष्म्यात् असृक् प्रकोपयति । च. चि. २३/२६

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कुछ रोगों में धातुक्षय स्पष्ट लिखा हुआ है, यथा—तृष्णा, पान्दू, आदि। कुछ में धातु दुष्टि या तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। केवल तीन व्याधियों में दूष्य की वृद्धि बताई गई है, यथा—रक्तपित्त, प्रमेह और वातरक्त (१, २, ३ में)। कई व्याधियों में, जिनका यहाँ समावेश नहीं किया गया है, दूष्य की स्थिति को बताने वाले किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, परन्तु उनमें धातुक्षय के लक्षण मिलते हैं। स्पष्टतः रक्तपित्त, प्रमेह और वातरक्त के अतिरिक्त सभी व्याधियों में धातुक्षय की स्थिति रहती है। रक्तपित्तादि में भी चिकित्सा-वर्णन में स्थूल अथवा कृश या बलवान अथवा दुर्बल इन श्रेणियों में उन रोगियों को वर्गीकृतकर अंत में 'वैल्य की अपरिहार्य अवस्था का आभास देकर शास्त्रकारों ने धातुक्षय की स्थिति की ओर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत किया है।

(४) पूर्वोक्त आधारों पर रोगावस्था में धातुक्षय सिद्ध होता है। परन्तु अधिकतम व्याधियों में स्रोतोदुष्टि का लक्षण-संग-मिलता है जिससे दूष्य की एकदेशीय वृद्धि और अन्यत्र क्षय मिलता है यथा—अतिसार में कोष्ठ में उदकवृद्धि, शरीरमें उदकक्षय मिलता है। इसी प्रकार जलोदर, शोथ, विसर्प, गलगण्ड, अर्बुद, अस्थि आदि संगप्रधान सभी व्याधियोंमें रोगाधिष्ठान में दूष्य की वृद्धि (एकदेशीयवृद्धि) और अन्यत्र क्षय समझना चाहिए। इस एकदेशीय वृद्धि के ज्ञान से रोगविनिश्चय एवं रोग के लक्षण सम्मुच्चय को समझने में सहायता मिलती है।

(५) प्रायः सभी रोगों में (रक्तपित्त, वातरक्त, प्रमेह, मेदोरोग को छोड़कर) धातुवर्धक उपाय किये जाते हैं, धातुक्षय कारक नहीं। पूर्वोक्त विवरण से रोगावस्था में धातुओं का क्षय सिद्ध होता है। धातुवृद्धि एकदेशीय ही होती है। इस प्रकार रोगों में दोषवृद्धि और धातुक्षय तथा एकदेशीय दोषक्षय एवं एकदेशीय धातुवृद्धि स्पष्ट होती है। संख्या के दृष्टिकोण से अधिकतम व्याधियाँ रस-रक्तज होती हैं। ओतो दुष्टि के लक्षणोंमें से अधिकतम रोगों में 'संग' मिलता है। संग प्रधान व्याधियों में एकदेशीय वृद्धि और अन्यदेशीय क्षय को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है।



इस प्रकार एकदेशीय दोषक्षय एवं एकदेशीय धातुवृद्धिका केवल रोगविनिश्चय में महत्त्व है। दोषवृद्धि और धातुक्षय का नैदानिक, रोग विनिश्चयात्मक तथा चिकित्सात्मक महत्त्व है।

द्रष्टव्यस्थल

713

१. रोगस्तु दोषवैषम्यम् । अ० ह० सू० १-२०
२. वैषम्यं हि पुनर्धातूनां वृद्धिं ह्यासगमनम् अकात्स्नेन प्रकृत्याच ।
च. शा. ६-४
३. दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिगं दर्शयन्ति यथाबलम् ।
क्षीणाजहति लिगं स्वं समा स्वं कर्म कुर्वते ॥ च. सू. १७-६२
४. वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणं मुच्यते ।
कर्मणः प्राकृतात् हानिवृद्धिर्वापि विरोधिनाम् ॥ च. सू. १८-५२
५. शमः प्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्नि संस्थितौ ।
तस्मार्दाग्निं सदा रक्षेत् निदानानि विवर्जयेत् ॥ च. चि. ५-१३६
६. अतिस्नेहात्तुमन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः ।
भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥
उदावर्तात्तुमन्देऽग्नौ निरूहा स्नेहवस्तयः ।
दोषवृद्ध्यातुमन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिचरेत् ॥ च. चि. १५-२०३, २०७
७. व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्प प्रमिताशनम् ।
वातातपोभयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम् ।
कालोभूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षय हेतवः ॥ च. सू. १७-७६, ७७
८. काठिन्याद्गूनभावाद्वा दोषोऽन्तः कुपितो महान् ।
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदु दोषकरो भवेत् ॥ च. चि. ३०-३२९

“काठिन्यादिति दोषचय रूपं संहतत्वात् । ऊनभावात् अचय प्रकोपात्”

चक्रपाणि

९. चयादीन् ग्रान्ति सद्योपि दोषाः कालेन वा न तु । अ. ह. १२-२९
१०. क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्यात् रसः सज्जति यत्र स ।
तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेश प्रकोपणम् । च. चि. १५-३७, ३८
११. कृत्स्नेर्धेवयवेवापि यत्रांगे कुपितोमृशम् ।
दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति ॥ सु. सू. २१-२८



निदानं त्वादिकारणम्

निदान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—रोग को उत्पन्न करने वाले (निमित्त) कारण और रोग विनिश्चय । इसका विशेष तथा शास्त्रीय प्रयोग रोगोत्पादक कारणों के लिए मिलता है । हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, मूल, योनि, मुख, प्रेरण और प्रकृति ये सब निदान के पर्याय बताए गए हैं । रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया दोष प्रकोप से प्रारंभ होती है और यह प्रकोप निदान से होता है । अतः निदान को रोग का प्रथम कारण माना जाता है और निदान परिवर्जन को चिकित्सा का प्रथम सूत्र माना जाता है । रोगोत्पत्ति में निदान को निमित्त कारण, दोषों को समवायिकारण और दोषदूष्य सम्मूर्च्छना को असमवायि कारण मानते हैं ।

निदान के भेद

- (१) निज कारण — इनसे वातादि दोषों की वृद्धि होकर निजरोग उत्पन्न होते हैं ।
- (२) आगन्तुक कारण — अभिघात, अभिचार, अभिषंग और अभिशाप से आगन्तुक व्याधि उत्पन्न होती है ।
पुनः निदान को तीन भागों में विभक्त करते हैं ।
- (१) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग — इन्द्रियों का इन्द्रियार्थों से मिथ्यायोग, अतियोग, अयोग या हीनयोग ही असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग है ।
- (२) प्रज्ञापराध — वृद्धिभ्रम से जब मनसा, वाचा, कर्मणा आहित आहार विहार एवं आचार किया जाता है तब प्रज्ञापराध से रोग होते हैं । असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग भी बहुत अंशोत्क प्रज्ञापराधजन्य होता है ।
- (३) परिणाम — ऋतुओं के अस्वाभाविक रूपसे शीत उष्णादि होने पर या वर्षा, शीत एवं गरमी के कम, अधिक या असामयिक होने से भी व्याधियाँ होती हैं । वय के अनुसार भी कुछरोग किसी वय में अधिक मिलते हैं ।

निदान को पुनः चार प्रकार से भी विभक्त किया गया है ।

- (१) सन्निकृष्ट — वय, दिन, रात्रि तथा भोजन के अन्त, मध्य और आदिकाल में वात, पित्त तथा कफ का प्रकोप हुवा करता है । इन्हें सन्निकृष्ट हेतु कहते हैं ।
- (२) विप्रकृष्ट — दूरस्थ कारण के विप्रकृष्ट हेतु कहते हैं, यथा—'हिमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोग कृत' ।
- (३) व्यभिचारी हेतु — जो निदान दुर्बल होते हैं वे रोग उत्पन्न नहीं करपाते, उन्हें व्यभिचारी हेतु कहते हैं ।
- (४) प्राधानिक — उग्रस्वभाव के कारण जो शीघ्र दोष प्रकोपककारक होते हैं उन्हें प्राधानिक हेतु कहते हैं, यथा—विष ।

पुनः निदान को अन्य तीन प्रकारों में भी विभक्त करते हैं—

- (१) दोषहेतु — केवल दोष प्रकोपक कारणों के दोषहेतु कहते हैं ।
- (२) व्याधिहेतु — किसी व्याधि विशेष के उत्पन्न करने (खवैगुण्य एवं विशिष्ट दृष्य-दौर्बल्य करने) में जो कारण हों उन्हें व्याधि हेतु कहते हैं, यथा — मृत्तिकाभक्षण से पाडु आदि ।
- (३) उभयहेतु — जिन कारणों से दोषवृद्धि, खवैगुण्य तथा विशिष्ट दृष्यों में दुष्टिभाविद्व उत्पन्न होकर रोग होते हैं उन्हें उभयहेतु कहते हैं, यथा विदाही अन्नपान पित्तप्रकोपक, रक्तप्रत्तादूषक, तथा रक्तवह स्रोतस में खवैगुण्योत्पादक होने से रक्तपित्त का उभय हेतु है । निदान को पुनः दो भागों में विभक्त करते हैं—

- (१) सामान्य निदान — मिथ्या आहार विहार से दोषवृद्धि करके रोग उत्पन्न करने वाले निदानों के सामान्य निदान कहते हैं ।

- (२) विष, शस्त्र, कृमि आदि से दोषप्रकोप होता है, इन निदानों के विशिष्ट निदान कहते हैं । रोग के वातादिभेदों को प्रगट करने वाले निदानों को भी विशिष्ट निदान कहना चाहिए ।
जीवाणुओं तथा कृमियों के भी निदान में समाविष्ट करना चाहिए ।

- (१) आयुर्वेद में कृमियों का स्पष्ट वर्णन है । 'केचित् सूक्ष्मादर्शनाः' से कुछ सूक्ष्म कृमियों की भी उपस्थिति एवं तज्जन्य विकारों की ओर संकेत किया गया है । परन्तु शारीरिक बल के कम होने पर ही ये कृमि रोगोत्पत्ति करते हैं, मात्र इनकी उपस्थिति रोगोत्पत्ति कारक नहीं है, अतः आयुर्वेद में कृमियों की अपेक्षा दोष — धातु — मल्लों का अधिक महत्व प्रतिपादित किया गया है ।

- (२) कृमियों से भी प्रथम दोषप्रकोप होकर रोग होते हैं अतः इन्हें भी निमित्त कारण मानना चाहिए ।

- (३) 'संक्रामन्ति नरान् नरम्' कहकर ज्वर, प्रतिश्याय, कुष्ठ, यक्ष्मा आदि रोगों का एक रोगी से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण बताया गया है । यह संक्रमण कृमियों के संक्रमण से होता है । अतः कृमियों की उपस्थिति एवं उनका महत्व स्वीकार्य है और उन्हें व्याधि न कहकर निदान कहते हैं ।

- (४) आन्त्रों में प्राकृतिक रूप से रहने वाले जीवाणुओं का भी रोगोत्पत्ति में हाथ होसकता है और यह दोषप्रकोप पूर्वक ही होता है ।

- (५) वायु एवं उदक के माध्यम से इन कृमियों का शरीर में प्रवेश होता है । आघात लगने पर विदीर्ण त्वक् से भी ये शरीर में प्रविष्ट होसकते हैं । इस आधार पर इन्हें आगन्तुक

कारण भी कुछ विद्वान स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इनसे उत्पन्न होने वाली सभी व्याधियाँ निज हैं। इन कृमियों की उपस्थिति होने पर दोषों पर प्रभाव पड़कर ही रोगोत्पत्ति हुवा करती है। लेकिन क्योंकि ये मिथ्या आहार विहार में नहीं आते अतः इन्हें आगन्तुक कारण कहा जाता है। ये आहार विहार का रूप न होकर आहार के साथ जाने वाले या अन्य मार्ग से भी प्रविष्ट होने वाले भाव हैं अतः इन्हें किसी भी प्रकार (कारणतः आगन्तुक, व्याध्युत्पत्तिदृष्टिकोणसे निज) में रख सकते हैं।

निदान के कार्य

रोगोत्पत्ति में 'विकृतिमापन्नास्तु (दोषाः) खलु नानाविधैविकारैः शरीरमुपतापयन्ति' से दोषविकृति, 'स्वधातुवैषम्य निमित्तजाः ये विकारसंघा वहवः शरीरे' से दूष्य विकृति तथा 'तदेतत् स्रोतसां प्रकृति भूतवान्न विकारै रुपसृज्यते शरीरम्' से स्रोतोविकृति का होना बतलाया गया है। रोगोत्पत्ति की प्रकिया को सम्प्राप्ति कहते हैं। प्रकुपित दोष समस्त शरीर में प्रसरण करते हैं और जहाँ उन्हें खवैगुण्य मिलता है वहीं पर वे रुक जाते हैं तथा तत्रस्थ दूष्य के साथ सम्मूर्च्छना करते हैं जिससे स्रोतोदुष्टि होकर रोग उत्पन्न होता है।

रोगोत्पत्ति के इस सामान्य विवरण से तीन प्रधान बातें सामने आती हैं—

१. दोषों का प्रकोप।
२. खवैगुण्य।
३. दोषों के द्वारा दूष्यों की दुष्टि।

इन तीन बातों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रश्न सामने आते हैं—

१. दोषप्रकोप का रोगोत्पत्ति के प्रकरण में क्या अर्थ है, यह किससे और कैसे उत्पन्न होता है ?।
२. खवैगुण्य कैसे होता है और उसे कौन उत्पन्न करता है ?।
३. दोष किसी विशिष्ट दूष्य को ही क्यों दुष्ट करते हैं ?।

इन तीनों प्रश्नों का उत्तर है कि निदान के तीन अंश होते हैं जिनसे पूर्वोक्त तीनों कार्य होते हैं; अर्थात् एक रोग के वर्णित निदानोंमें से कुछ दोष प्रकोपक होते हैं, कुछ खवैगुण्योत्पादक और कुछ धातुशैथिल्यकर।

निदान से दोषप्रकोप

१. इससे पूर्व यह सिद्ध किया जाचुका है कि रोगोत्पत्ति में दोषवृद्धि का कर्तृत्व है। निदान से दोषों की वृद्धि होती है, क्षय नहीं। दोषवृद्धि अधिक (चय प्रकोप) या कम मात्रा में (अचय प्रकोप) हो सकती है। उग्र निदानों से दोषों की वृद्धि शीघ्र हो जाती है। तीसटाचार्यने दोषों को प्रकुपित (बढ़ानेवाले) करनेवाले कारणों का सुन्दर संकलन प्रस्तुत किया है जो नीचे दिया जा रहा है।

वात प्रकोपक हेतु

१ अतिव्यायाम	९ अतिशोक	१७ वर्षाऋतु
२ अपतपण	१० शीत	१८ भोजन पचने पर
३ लंघन	११ अधिकभय	२९ सायंकाल
४ प्रपतन	१२ क्षोभ	२० बलवद् विग्रहः
५ भग्न	१३ रुक्ष पदार्थ सेवन	२१ अतिव्यवाय
६ धातुक्षय	१४ कटु " " "	२२ अत्यध्ययन
७ रात्रिजागरण	१५ कषाय " "	२३ प्रधान
८ वेग विधारण	१६ तिक्त " "	२४ प्रपीडन

२५	अभिघात	४७	अनशन	६८	तुम्ब
२६	प्लवन	४८	विषमाशन	६९	कालिङ्ग
२७	प्रतरण	४९	अध्यशन	७०	चिर्भट
२८	भार	५०	विषमोपचार	७१	कमलनाल
२९	गजातिचर्या	५१	दोषातिस्त्रवण	७२	शालूक
३०	तुरगातिचर्या	५२	रक्तातिस्त्रवण	७३	जाम्बव
३१	रथातिचर्या	५३	चिन्ता	७४	तिन्दुक
३२	पदातिचर्या	५४	शोक	७५	हीन भोजन
३३	लघुद्रव्य	५५	रोगातिकर्षण	७६	शुष्कभोजन
३४	शुष्कशाक	५६	दुःखशय्या	७७	तृषिताशन
३५	वल्लूर	५७	दुःखासन	७८	क्षुधिताम्बुपान
३६	वटक	५८	क्रोध	७९	विरेचनाद्यतियोग
३७	उद्दालक	५९	दिवास्वप्न	८०	वेगोदीरण
३८	केारदूषक	६०	भय	८१	विक्षेपण
३९	श्यामाक	६१	आम	८२	भ्रमण
४०	नीवार	६२	मर्माभिघात	८३	चालन
४१	मुद्ग	६३	मार्गविचरण	८४	क्रियातियोग
४२	मसूर	६४	विष्टम्भिपदार्थोंका	८५	पराधातन
४३	चणक		सेवन	८६	साहस
४४	कलाय	६५	विरूढान्न	८७	अत्युच्चभाषण
४५	आढकी	६६	तृणधान्य	८८	गाढोत्सादन
४६	निष्पाव	६७	करीर		

इनमें वायु को बढ़ाने वाले मिथ्या आहार-विहार, आहार सम्पदा-भाव, मानसिक कारण तथा वातवर्धक विशिष्ट अन्नों का समावेश है।

पित्त प्रकोपक कारण

१	कटू	२३	भय	४५	मूत्र
२	अम्ल	२४	आयास	४६	धान्याम्ल
३	लवण	२५	तैल	४७	निष्पाव
४	उष्ण	२६	पिण्याक	४८	तिलान्न
५	विदाही	२७	कुलत्थ	४९	आभ्रातक
६	तीक्ष्ण	२८	सर्षप	५०	पीलु
७	क्रोध	२९	हरितशाक	५१	भल्लातकासीस
८	उपवास	३०	गोधामांस	५२	लांगलिका
९	आतप सेवन	३१	मत्स्यमांस	५३	अग्नि
१०	स्त्रीप्रसंग	३२	अजा-मांस	५४	मरिच
११	तिल सेवन	३३	आविक मांस	५५	रज
१२	अलसी	३४	तक्र	५६	धूम
१३	दही	३५	कृचिका	५७	ईर्ष्या
१४	सुरा	३६	मस्तु	५८	अजीर्ण मैथुन
१५	सिरका या कांजी	३७	सौवीश्क	५९	वर्षा ऋतु
१६	भोजनोत्तर काल	३८	सुराविकार	६०	क्षुधारोध
१७	भोजन पाचन काल	३९	अम्लफल	६१	तृष्णारोध
१८	शरद् ऋतु	४०	कट्वर		
१९	ग्रीष्म ऋतु	४१	उष्णकाल		
२०	मध्याह्न	४२	धार		
२१	अर्धरात्रि	४३	शुक्त		
२२	शोक	४४	शाण्डाकी		

इन सब निदानों से पित्त की वृद्धि होती है। विभिन्न पित्त प्रधान रोगों के निदानों में इनका समावेश किया गया है। इनमें भी पित्तवर्धक मिथ्या आहार विहार, मानसिक कारण तथा पित्तवर्धक कुछ विशिष्ट द्रव्यों का भी समावेश किया गया है।

कफ प्रकोपक कारण

१	गुरु	२४	यवक	४७	स्थूलभक्ष्या
२	मधुर	२५	नैषध	४८	शष्कुली
३	स्निग्ध	२६	इत्तुट	४९	आमक्षीर
४	दुग्ध	२७	माष	५०	किलाट
५	इक्षुविकार	२८	महामाष	५१	मोरट
६	द्रवपदार्थ	२९	गोधूम	५२	कूर्चिका
७	दही	३०	तिल विकृति	५३	तक्रपिण्डक
८	दिवास्वप्न	३१	पिष्ट विकृति	५४	पीयूष
९	अपूप सेवन	३२	कृशरा	५५	कदलीफल
१०	घृतपक्व सेवन	३३	आनूपमांस	५६	खर्जूर
११	हेमन्त ऋतु	३४	पायस	५७	भव्य
१२	शिशिर ऋतु	३५	औदकमांस	५८	नारिकेल
१३	प्रातकालः	३६	वसा	५९	निशाम्बुपान
१४	भोजन के तुरन्त बादमें	३७	विष	६०	अत्यम्बुपान
१५	वसन्त ऋतु	३८	मृणाल	६१	अतिसंतर्पण
१६	अव्यायाम	३९	कसेरुक	६२	कालातिस्वप्न
१७	आलस्य	४०	श्रृंगारक	६३	हर्ष
१८	अम्ल	४१	मधुरफल	६४	छदिविघात
१९	लवण	४२	वल्लीफल	६५	विरेचनाद्ययोग
२०	शीत	४३	समशन	६६	आस्यासुख
२१	पिच्छिल	४४	अध्यशन	६७	अजीर्ण
२२	अभिष्यन्दि	४५	नवान्न	६८	मन्दान्न
२३	हायनक	४६	पृथुका	६९	अवश्याय

पूर्वोक्त कारणों में भी कफवर्धक मिथ्या आहार विहार, मानसिक कारण तथा कफवर्धक विशिष्ट द्रव्यों का समावेश किया गया है। वातवर्धक पित्तवर्धक एवं कफवर्धक हेतुओं की पूर्वोक्त तालिकाओं से यह भी स्पष्ट होता है, कि कुछ निदान कई दोषों को बढ़ा सकते हैं यथा दधि पित्त एवं कफ प्रकोपक बताया गया है, निष्पाव वात पित्त प्रकोपक बताया गया है, आदि। इसी प्रकार से प्रत्येक रोग के जो निदान बताए गए हैं उनसे उस रोगको उत्पन्न करनेवाले दोष की वृद्धि होती है।

२ विभिन्न रोगों की सम्प्राप्तियों में निदान से दोषवृद्धि को विभिन्न शब्दों द्वारा बताया गया है। एतदर्थ कुछ उदाहरण नीचे की तालिका में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

क्रमांक	शास्त्र वचन	रोगनाम	प्रधानदोष	संदर्भ
१	तैर्हेतुभिः समुत्किलष्टं पित्तम् ।	रक्तपित्त	पित्त	च. चि. ४-७
२	कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ।	गुल्म	वात	५-५
३	बहुद्रवः श्लेष्मा दोष विशेषः ।	प्रमेह	कफ	च. नि. ४-६
४	वातादयास्त्रयो दुष्टाः ।	कुष्ठ	त्रिदोष	च. चि. ७-६
५	वायुः प्रकुपितः ।	राजयक्ष्मा	त्रिदोष	८-१५
६	तैरत्यसत्त्वस्य मला दुष्टाः ।	उन्माद	॥	९-५
७	विभ्रान्त बहु दोषाणाम् ।	अपस्मार	॥	१०-४
८	कफासृक पित्तानि संदूषयतीह वायुः ।	शोथ	वात	१२-८
९	दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।	उदररोग	वात (त्रिदोष)	१३-८
१०	वायुरपानः... पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति ।	अर्श	वात (त्रिदोष)	१४-८
११	दुष्यत्यग्निः ।	ग्रहणी	पित्त	१५-४४
१२	दोषाः पित्त प्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति ।	पाण्डु	पित्त (त्रिदोष)	१६-४
१३	मासुतः.....कुप्यति ।	श्वास	वात (वात+कफ)	१७-१७

१४ स वायुः कुपितः ।	अतिसार	वात	च. त्रि. १९-५
१५ वायुर्माघ्नोत्तसि संप्रवृद्धः ।	छर्दि	वात (कफ)	,, २०-७
१६ कुपिताः मारुतादयः ।	विसर्प	त्रिदोष	,, २१-२२
१७ पित्तानिलौ प्रवृद्धौ ।	तृष्णा	वात+पित्त	,, २२-५
१८ रक्ष्यात् वातं प्रकोयति ।	विष	वात (त्रिदोष)	,, २३-२५
१९ मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण ।	मदात्यय	,,	,, २४-११७
२० दुष्टा वात पित्त कफाः ।	निजव्रण	त्रिदोष	,, २५-१०
२१ पक्वाशये कुप्यति चेदपानः ।	उदावर्त	वायु	,, २६-५
२२ पृथक् मलाः स्वैः कुपितैः निदानैः ।	मूत्रकृच्छ्र	वायु	,, २६-३३
२३ स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन् मेदसा सह रुद्धवा ।	उरुस्तम्भ	त्रिदोष	,, २७-१०
२४ पूरयित्त्वानिलोवली ।	वातव्याधि	वात	,, २८-१८
२५ अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते ।	अर्दित	वात	,, २८-३८
२६ वायुर्विवृद्धः ।	वातशोणित	वात	,, २९-१०
२७ वातलायाः समीरणः विवृद्धः ।	योनितीद	वात	,, ३०-६
२८ वायुः प्रवृद्धो निश्चितं वलासम् ।	प्रवाहिका	वात+कफ सु. उ. ४०	
२९ प्राणोह्युदानानुगतः प्रदुष्टः ।	कास	,,	६२
३० प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।	स्वरभेद	वात	,, ५३
३१ दोषाः विगुणाः ।	हृद्रोग	त्रिदोष	,, ४३
३२ अपानः कुपितो वायुः ।	मूत्रजठर	वात	,, ५८
३३ वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टाः ।	गलगण्ड	वात+कफ सु. नि. ११	
३४ प्रदुष्टौ कफ मारुतौ ।	शीतपित्त	कफ+वात माधव	
३५ विदग्धं पित्तम् ।	अम्लपित्त	पित्त	,,
३६ दोषाः सम्मूर्च्छिताः ।	अर्बुद	त्रिदोष सु. नि. ११	
३७ दोषाः.....उच्छ्रिताः ।	विद्रधि	पित्त (त्रिदोष) ,, ९	

ऊपर दी गई तालिका में दोषवैषम्य (दोषवृद्धि) ज्ञापक

निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग मिलता है - दोष प्रकोप, दोषवृद्धि, दोषदुष्टि, दोषवैगुण्य, सम्मूर्च्छित दोष, उच्छ्रित दोष, समुत्क्लिष्ट दोष, संचित दोष, बलवान दोष तथा विदग्ध दोष । इन सभी शब्दों से तत्तत् प्रकरण में दोष वृद्धि समझनी चाहिए, क्योंकि जिन रोगों में जो प्रधान दोष बताए गए हैं उन रोगों में बताए गए निदानों से उन दोषों की वृद्धि ही हो सकती है, क्षय नहीं । निदानों से दोषों की वृद्धि 'सामान्य वृद्धि कारणम्' के सिद्धान्तानुसार ही होती है । आगन्तुक और मानसिक कारणों से भी दोषवृद्धि होकर ही रोग होते हैं ।

३ निदान में दोष के जिस अंश को बढ़ाने वाले भाव होंगे उनसे दोषके उसी विशिष्ट अंश की वृद्धि होगी । इस प्रकार दोष की सर्वांगीण विकृति या किसी एक गुण की वृद्धि हो सकती है, यथा आध्मान में वायु की सर्वांगीण (द्रव्यतः) विकृति होती है; रक्तपित्त में पित्त की और श्वास में कफ की द्रव्यतः वृद्धि होती है । निदान से दोष के किसी विशिष्ट गुण की विकृति के उदाहरण स्वरूप ज्वर (पित्त का उष्णगुण), शूल वायु का चलगुण, विबंध (वायु का रुक्ष गुण), पित्ततिसार (पित्त का सरगुण तथा द्रवगुण) आदि ले सकते हैं और उन रोगों के निदानों से उन गुणों की वृद्धि स्वीकार कर सकते हैं ।

४ निदान से अग्निमांद्य भी होता है । यह या तो सीधे ही निदान से हो जाता है या किसी दोष की वृद्धि से अग्नि पर क्षयात्मक प्रभाव पड़कर होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से अग्निमांद्य का निदान से सम्बन्ध है । अग्निमांद्य वस्तुतः कैसे होता है ? इस सम्बन्ध में तीन बातें अवधेय हैं -

(अ) अग्नि प्राकृत है, परन्तु आहार के अधिक मात्रा में अनुचित काल में असम्यक् रीति से लिए जाने के कारण अग्नि उसे पचा

नहीं पाती और अजीर्ण जैसी अवस्था हो जाती है । इसे भी अग्निमांद्य कहते हैं ।

(आ) निदान से किसी दोष की वृद्धि होकर कोष्ठ में पाचन के माध्यम के बदल जाने से अग्नि अपना कार्य नहीं कर पाती । इसे दोषों द्वारा अग्नि पर प्रभाव और परिणामतः अग्निमांद्य की स्थिति उत्पन्न होती है ।

(इ) अग्नि (पित्त) भी पोष्य-पोषक भाव से दो प्रकार की होती है । पोषक भाव आहार से मिलते हैं । आहार के ठीक न पचने के कारण पोषक भावों की कमी से अग्निमांद्य हो सकता है । इस प्रकार अग्निमांद्य निदान से, दोषवृद्धि से, पोषक भाव की कमी से हो सकता है । यहाँ यह स्मरणीय है कि निदान से पित्त (अग्नि) पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है क्योंकि निश्चित मात्रा में लिए गए आहार का पचाने में क्षम अग्नि अधिक या अव्यवस्थित आहार को पचा नहीं सकती और तब हम उसे अग्निमांद्य या अजीर्ण कह देते हैं । इसका यह अर्थ नहीं कि पित्त के गुण कर्मों पर निदान से सीधा क्षयात्मक प्रभाव पड़ता है ।



निदान से रववैगुण्य

निदान के एक अंश से रववैगुण्य उत्पन्न होता है ।

- १ यदि रववैगुण्य और स्ववैगुण्य का विवाद उपस्थित करके कहा जाय कि दोष स्वयं ही रववैगुण्य उत्पन्न करते हैं तो प्रश्न होगा कि दोष किसी विशिष्ट स्रोतस में ही वैगुण्य क्यों और कैसे करते हैं ? । प्रसरणशील दोष सर्वप्रथम रसवहस्रोतस के सम्पर्क में आते हैं अतः दोषों को सदा रसवहस्रोतस में ही रववैगुण्य करना चाहिए और इस प्रकार रसवहस्रोतस की ही व्याधियाँ होनी चाहिए, अन्य नहीं ।
- २ सम्प्राप्ति की अवस्थाओं से स्पष्ट होता है कि दोषों का संग या स्थान-संश्रय उसी स्थान में होता है जहाँ रववैगुण्य उपस्थित हो । इसका यह अर्थ हुआ कि प्रसरण करते हुए दोषों को बनाबनाया रववैगुण्य मिलता है जहाँ वे स्थानसंश्रय करते हैं । यह रववैगुण्य दोषों के वहाँ पहुंचने के पूर्व ही किसने किया ?, इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर यही है कि रववैगुण्य निदान के एक विशिष्ट अंश से होता है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित कुछ व्याधियों में निदान का रववैगुण्योत्पादक अंश देखिये—

अनुक्रम	रोगनाम	रववैगुण्योत्पादक निदानांश
१	श्वास	रज तथा धूम्र सेवन
२	उरःक्षत	प्लावन, धावन, आघात
३	रक्तपित्त	आतप, व्यायाम, श्रम
४	जलेदर	स्नेहन, अनुवासन आदिके बाद सहसा शीतल जल पीना
५	निजशोथ	चेष्टाहीन अर्श, मर्मोपघात, विषम प्रसूति ।
६	स्वरभेद	उच्च स्वर से भाषण, विष सेवन ।

७	कास	धूम्र, रज, भोजनांश का श्वास प्रणालीमें जाना
८	अर्श	कठोर आसन पर बैठना, पत्थर या मिट्टी से गुदा को साफ करना, अति कुंथन
९	वातरक्त	उष्णान, प्लावन, अभिघात, अत्यध्वगमन
१०	तृष्णा	सूर्य संताप, मद्य, शुष्कान्न, उष्ण तापमान
११	अतिसार	वेगधारण, प्रदूषित जलपान
१२	उरुस्तम्भ	अत्यायास, उरुक्षोभ

इसी प्रकार सभी रोगों में समझना चाहिए ।

- ३ शाब्दिक अर्थ से रववैगुण्य और स्रोतोदुष्टि एक ही चीज लगती है, परन्तु वस्तुतः दोनों में स्पष्ट अन्तर है । रववैगुण्य निदानांश से होता है जब कि स्रोतोदुष्टि दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है । सम्प्राप्ति की स्थानसंश्रयावस्था के लिए रववैगुण्य आवश्यक है और स्रोतोदुष्टि व्यक्ति की अवस्था में होती है और इसीलिए स्रोतोदुष्टि के चार लक्षणों के आधार पर रोगों के प्रत्यात्म लक्षणों को समझाया जाता है, यथा, ज्वर में रसवह स्रोतस में संग जिससे तत्र प्रक्षिप्त पित्तोष्मा के त्वचा में वृद्धि के लक्षण और कोष्ठ में क्षय के लक्षण; अतिसार में पुरीष की अतिप्रवृत्ति; अर्श में सिराम्रथि; श्वास में प्राणवह स्रोतों में संग; जलादर में उदक का विमार्गगमन आदि । इस प्रकार यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि स्रोतोदुष्टि दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जनित है तो शास्त्रों में वर्णित स्रोतोदुष्टिकर निदानों को रववैगुण्योत्पादक निदानांश समझना चाहिए । ऐसा स्वीकार करनेपर सभी स्रोतसों के लिए रववैगुण्योत्पादक निदानांशों का सरलतया समझा जा सकता है । कुछ निदान एक ही साथ दोष प्रकोपक, दूष्य-दौर्बल्यकर तथा रववैगुण्योत्पादक भी हो सकते हैं । ऐसे निदान अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं ।
- ४ यदि निदान के द्वारा मात्र दोष वृद्धि ही होती तो प्रत्येक रोग में निदान लिखने की आवश्यकता नहीं थी । प्रायः पित्ताप्रकोपक

निदान एक से ही हैं अथवा उसके गुणों के आधार पर उन्हें तीन वर्गों में बांटकर लिखा जा सकता था । इसी प्रकार सभी वात और कफ के रोगों का निदान एकबार लिख देना चाहिए था । ऐसा न करनेके पीछे यही एक हेतु है कि प्रत्येक रोग का निदान न केवल दोषवृद्धि अपितु दूष्य शैथिल्य एवं खवैगुण्य भी उत्पन्न करता है ।

- ५ शास्त्रीय आधार पर कहें तो, उदाहरणार्थ, ज्वर तब उत्पन्न होगा जब पित्तवृद्धि (विशेषतः उष्णगुण की) हो और वह पित्त रसवह स्रोतस में स्थानसंश्रय करके रसधातु के साथ सम्मूर्च्छना करे । ये ज्वरके निदान हैं ऐसा कहनेका एक अर्थ यह भी है कि यदि किसी को इन निदानों का सेवन कराया जाय तो ज्वर ही होगा; अर्थात् उस निदान से पित्तवृद्धि होगी, रसवह स्रोतस में खवैगुण्य होगा जिससे प्रसर करता हुआ पित्त रसवह स्रोतस में ही स्थानसंश्रय करेगा और इससे सम्मूर्च्छना करके ज्वर ही उत्पन्न करेगा । यदि निदान से केवल दोषवृद्धि ही हो तो यह कहना कठिन था कि अमुक निदान के सेवन से अमुक ही व्याधि होगी । इन आधारों पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि निदान के एक अंश से खवैगुण्य उत्पन्न होता है । विभिन्न रोगों को उत्पन्न करनेवाले विभिन्न कृमि किसी विशिष्ट स्थान या स्रोतस में ही क्यों स्थानसंश्रय करते हैं ? इसका अर्वाच्य चिकित्सा विज्ञान उचित उत्तर नहीं दे पाता है । उनके कथनानुसार कृमियों को किसी विशिष्ट स्थान में अनुकूल वातावरण मिल जाता है या उस स्थान पर होनेवाले रस-विनिमय में बाधा (Stasis of tissue fluid) उत्पन्न हुई रहती है, अतः कृमि वहीं रुक जाते हैं । कुछ कृमि कुछ विशिष्ट स्रोतसों या धातुओं (tissues) को ही प्रभावित करने की शक्ति रखते हैं और उन्हीं में वे रुककर रोग उत्पन्न करते हैं । स्पष्टतः आयुर्वेद का खवैगुण्य सिद्धान्त अधिक व्यापक और वैज्ञानिक है ।

निदान से दूष्यों में दौर्बल्य

१ इससे पूर्व यह बताया जा चुका है कि रोगों से धातुक्षय होता है । यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि कोई भी दोष चय, प्रकोप, प्रसर अवस्थाओं को पार कर स्थान संश्रय की अवस्था में किसी विशिष्ट दूष्य को ही क्यों दुष्ट करता है ? । उदाहरणार्थ, श्वास प्राणावह सोतस की व्याधि है और उस में रस दूष्य हुवा करता है; अर्श गुदवलियों में मांस धातु की विकृति है, जलोदर में उदक दूष्य रहता है, आदि । सभी स्थानों या अवयवों में रस, रक्त, मांस आदि धातुयें रहने पर भी किसी विशिष्ट दूष्य की विकृति इसलिए होती है कि उस रोग के निदान के एक अंश से उसी विशिष्ट धातु या मल में दौर्बल्य उत्पन्न हो जाता है जिससे स्थानसंश्रयावस्था में दोष उसी दूष्य को प्रभावित करते हैं ।

२ चरक सूत्रस्थान २८ वें अध्याय में व्याधिक्षमत्व का वर्णन किया गया है । कारण के उपस्थित रहने पर भी यदि शरीर में बल हो तो रोग नहीं होते हैं । बल विशेषतः धात्वाश्रित रहता है । व्याधि को उत्पन्न ही न होने देना व्याधिक्षमत्व है; किसी रोग की उत्पत्ति में शारीरिक बल से रुकावट पैदा होती है और वह रोग उत्पन्न नहीं हो सकता—इसे व्याध्युत्पादक प्रतिबंधकत्व (बल) कहते हैं; रोग पैदा हो जाय परन्तु रोग के बल को, उग्रता को, कम करना व्याधिबल विरोधिकत्व (बल) है । इस प्रकार सभी धातुओं के पुष्ट रहने पर बल बना रहता है और कोई भी व्याधि उत्पन्न नहीं होती—यह सामान्य नियम व्याधिक्षमत्व शब्द से अभिप्रेत किया जाता है । कुछ विकार रसज होते हैं, कुछ रक्तज आदि । यदि प्रकृतितः या अन्यथा भी वह विशिष्ट धातु अधिक बलवान रहे तो वह रोग उत्पन्न नहीं हो सकता है । यहाँ पर 'सारतः

परीक्षेत' का व्यावहारिक महत्त्व है । रोग उत्पन्न होने के लिए धातुक्षय तथा तज्जन्य बलहानि आवश्यक है और निदान के द्वारा भी किसी विशिष्ट धातु का शैथिल्य उत्पन्न होता है । इस प्रकार निदान के एक अंश विशेष से धातुओं में दौर्बल्य सिद्ध होता है ।

३ शास्त्रों में जो धातु प्रदूषक कारण बताए गए हैं, उन्हें निदान का धातु दौर्बल्य कर अंश समझना चाहिए ।

इस प्रकार निदान के तीन भाग या अंश होते हैं जिन से दोषवृद्धि, खवैगुण्य और दूष्य में शैथिल्य या दौर्बल्य उत्पन्न होता है । ज्वर के निदान से पित्तवृद्धि, रसवहस्रोतस में खवैगुण्य और रस में दौर्बल्य उत्पन्न होता है । रक्तपित्त के निदान से पित्तवृद्धि, रक्तवहस्रोतस में खवैगुण्य और रक्तशैथिल्य होता है । प्रमेह के निदानों से कफवृद्धि, मेदोवह सोतस में खवैगुण्य और मेदोधातु का शैथिल्य होता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझें ।



एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति

कुछ रोग स्वयं रहते हुए या स्वयं शान्त होकर अन्य रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी अवस्थाओं में निदानार्थकर रोग और उससे उत्पन्न रोग की दोष दूष्य या स्रोतस में समानता होती है। प्रकुपित दोष का दूसरे दोष पर प्रभाव; प्रदुष्ट दूष्य द्वारा दूसरे दूष्य की दुष्टि तथा प्रदुष्ट स्रोतस द्वारा दूसरे स्रोतस पर वैकारिक प्रभाव पड़ता है। ज्वर संताप से रक्तपित्त तथा रक्तपित्त से ज्वर उत्पन्न हो सकता है और इनमें से एक या दोनों से क्षय उत्पन्न हो सकता है, कारण कि संताप से रक्तवृद्धि और रक्त का बहिर्गमन होकर क्षय होना संभव है। इसी प्रकार प्लीहावृद्धि से उदररोग और उदररोग से शोथ हो सकता है; अर्श से उदररोग तथा उदररोगसे गुल्म उत्पन्न हो सकता है तथा प्रतिश्याय से कास, कास से क्षय और क्षय से शोष हो सकता है। पूर्वोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि उनमें दोष, दूष्य या स्रोतस का सम्बन्ध रहता है। जब दो रोग एक साथ मिले तब उसे रोगसांकर्य कहते हैं। रोगसांकर्य में दोनों रोगों की चिकित्सा की जाती है। पूर्वोक्त निदानार्थकर रोग एवं तज्जन्य रोगों का, उदाहरणार्थ, दोष-दूष्य-स्रोतसात्मक सम्बन्ध नीचे प्रस्तुत है।

रोगनाम	प्रधानदोष	प्रधान दूष्य	स्रोतोदृष्टि लक्षण	अशुकारी चिकित्सा
ज्वर	पित्त	रस	संग	आशुकारी
रक्तपित्त	पित्त	रक्त	संग-विमार्गगमन	आ.
क्षय	त्रिदोषज	रस रक्तादि (रक्तादीनां च संशयात्)	संग	चि.
प्लीहाभिवृद्धि	वात	रक्त	संग	चि.
उदररोग	वात	रस	संग	आ./चि.
शोथ	वात	रस, रक्त	संग	चि.

अर्श	वात	मांस, रक्त	संग	चि.
उदर	वात	रस	संग	चि.
गुल्म	वात	रस	संग	चि./आ.
प्रतिश्याय	वात-कफ	रस	संग	आ.
कास	वात-कफ	रस	संग	आ.
क्षय	त्रिदोष	रस, रक्तादि	संग	चि.

चरक में दिये गए इन उदाहरणों के अतिरिक्त उदाहरण भी बनाये जा सकते हैं, यथा अजीर्ण से अतिसार, अतिसार से ग्रहणी और ग्रहणी से क्षय; रक्त-गतज्वर से पाण्डु, पाण्डु से कामला और दोनों से यकृदात्युदर या विपरीत क्रम से भी—यथा, यकृदात्युदर से पाण्डु, पाण्डु से कामला।

जब एक रोग से दूसरा रोग उत्पन्न होता है तब दोष-दूष्य-स्रोतस में कहीं समानता होते हुए भी रोगाधिष्ठान (स्थान), दोष के किसी एक विशिष्ट गुण की वृद्धि, स्रोतस में विकृति का अधिक हो जाना तथा दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना का विशिष्ट प्रकार आदि बातों में अन्तर आ जाता है जिससे रोगार्थकर निदान से दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में चरक का यह वचन अवधेय है—“स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः। तेषां सर्वेषामेव वातश्लेष्माणः प्रदुष्टाः दूषयितारो भवन्ति, दोष-स्वभावादिति”। चरक-विमान ५-९। “सोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोष संक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः”। च. चि. ५-९ पर चक्रपाणि। इसके अतिरिक्त एक स्रोतोमूल का दूसरे स्रोतस या धातु से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो तो एक रोग दूसरे रोग को जन्म दे सकता है—उदाहरणार्थ रक्त के सभी विकारों को भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे जिन का अधिष्ठान त्वचा में हो और दूसरे वे जिन का अधिष्ठान रक्त में ही हो। त्वचा मांस की उपधातु भी है और स्वेदवह स्रोतोमूल लोमकूप भी त्वचा में होते हैं। इसी प्रकार मेद की उपधातु स्नायु भी है जो कि

मांसवह स्रोतोमूल भी है। प्राणवह स्रोतस का मूल हृदय भी है जो कि रसवह स्रोतस का भी मूल है। अतः दोष-दूष्य और स्रोतस (सामीप्यात्, स्रोतोसंबंधात् स्रोतोविधातात्) एक स्थान विशेष से दूसरे स्थान विशेष पर प्रभाव डालकर रोग उत्पन्न करते हैं। इस रोगार्थकर रोग का व्यावहारिक महत्व प्रतिदिन देखने को मिलता है।

सहज रोग

अर्श, स्थौल्य, प्रमेह आदि कुछ व्याधियों को वंश परम्परागत बताया गया है। माता-पिता के बीज, बीजभाग या बीजभागावयव में विकृति रहने पर बच्चों में जन्मतः कुछ विशिष्ट धातुओं या स्रोतसों में दौर्बल्य रहता है जिससे उन्हें कुछ रोग जल्दी हो जाते हैं। इस सहज दौर्बल्य या विशिष्ट धातु/स्रोतस-विकृति को भी निदानार्थकर अवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है।



निदान का व्यावहारिक महत्त्व

- १ रोगी जब चिकित्सक के पास आता है, तब रोग की व्यक्तावस्था ही चुकी होती है। आज के व्यस्त जीवन में अत्यन्त अव्यस्थित एवं अनिश्चित आहार विहार सामान्य बातें हो गई हैं, अतः रोगी से किसी निश्चित निदान का ज्ञान करना कठिन हो जाता है। कुछ ही रोगों में मिथ्या आहार विहार का वृत्त स्पष्ट मिलता है। इसलिए रोग के निदानोंमें से ऐसे विशिष्ट निदानों का वृत्त लेना चाहिए जिसे रोगी बता सके। प्रत्येक रोग के निदानोंमें से कुछ विशिष्ट निदान ही आजकल व्यावहारिक महत्त्व रखते हैं, यथा-प्रमेह में आस्यासुख, स्वप्नसुख तथा अति मिष्टान्न सेवन; कुष्ठमें मत्स्य+दुग्ध, दुग्ध+लवण एवं शीत एवं उष्ण का एक साथ उपयोग; राजयक्ष्मा में साहस तथा अतिमैथून; उन्माद में मनोभिधात, क्षतक्षीण में साहस; विसर्प में कूर्चिक एवं किलाट का अधिक प्रयोग; मूत्रकृच्छ्र में क्षत, अभिधात एवं अश्मरी; तथा खवैगुण्योत्पादक निदानांश, इसी प्रकार सर्वत्र समझे। इनके सम्बन्ध में पूछने पर रोगी कुछ जानकारी देते हैं जिससे रोगविनिश्चय में सहायता मिलती है।
- २ लक्षण समुच्चय के आधार पर रोग विनिश्चय करके निदान एवं सम्प्राप्ति का अनुमान करते हैं। निदान का अनुमान करने से पथ्यापथ्य का क्षेत्र बढ़ाया जाता है। कुछ ही रोगों में पथ्यापथ्य का स्पष्ट वर्णन है। सभी रोगों में जो निदान हैं वे सब अपथ्य माने जाते हैं और शेष पथ्य; इन्हीं पथ्यों में से अवस्थानुसार पथ्य की व्यवस्था की जाती है।
- ३ यदि सभी उपलब्ध ग्रंथों से रोगों के निदान एकत्रित करें तो प्रत्येक रोग में निदानों की संख्या लम्बी होजाती है; यथा-शोथ के २१४ निदान

पाण्डु के ५५ निदान, अम्लपित्त के ३५ निदान, ग्रहणी के २५ निदान और धातुक्षय के ४६ निदान, आदि, आदि । यह तत्तत् रोगों में सामान्य निदान की संख्या है । विशिष्ट निदानों को जोड़ने पर यह संख्या और भी बढ़ जाती है । इस प्रकारके विस्तृत प्रोफोर्मा अन्वेषण में काम आते हैं । परन्तु दैनन्दिन रोगीचर्या पत्रकों में इतने विस्तार की आवश्यकता नहीं होती । मुख्य निदानों को याद रखने से काम चल जाता है । इन्हीं मुख्य निदानों से पथ्यापथ्य भी निश्चित कर सकते हैं ।

- ४ 'निदान परिवर्जन' निदान का बहुत बड़ा व्यावहारिक महत्त्व है । कुछ रोगों में तो निदान परिवर्जन ही महत्त्वपूर्ण चिकित्सा है, यथा—मृत्तिका भक्षणजन्य पाण्डु में, शोकातिसार में, द्विष्टार्थ संयोगज छर्दि में, आदि ।
- ५ अन्वेषण—प्राणियों पर परीक्षण करने के हेतु से उन प्राणियों में रोग पैदा किया जाता है और पश्चात् औषध का प्रयोगकर अध्ययन किया जाता है । इस प्रक्रिया में निदान का सेवन कराकर रोगोत्पत्ति करने में निदान का गवेषणात्मक प्रात्यक्षिक महत्त्व भी है ।



संतर्पण व अपतर्पण बनाम निदान

पीछे हम यह लिख चुके हैं कि प्रायः सभी रोगों में धातुक्षय होता है । इसी प्रकार रोगोत्पत्ति में हम दोषवृद्धि का ही विशेष कर्तृत्व स्वीकार कर चुके हैं, दोषक्षय का नहीं । इस पृष्ठभूमि में संतर्पण एवं अपतर्पण का विचार करेंगे । एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग हो सकता है । इस दृष्टि से सामान्यतः संतर्पण और अपतर्पण इन शब्दों का प्रयोग निदान एवं चिकित्सा के लिए किया गया मिलता है । संतर्पणोत्थ रोगों की अपतर्पण चिकित्सा और अपतर्पणोत्थ रोगों की संतर्पण चिकित्सा करने के बचन भी मिलते हैं । परन्तु यदि एक शब्द को एक निश्चित अर्थ और सीमा में प्रयुक्त करना अभीष्ट हो, जैसा कि विज्ञान के क्षेत्र में है, तो संतर्पण और अपतर्पण को निदान के क्षेत्र में तथा लंघन—वृंहणादि को चिकित्सा के क्षेत्र में रखना चाहिए । 'संतर्पणोत्थाः ये रोगाः रोगाः ये चापतर्पणात्' कहकर इन्हें निदान के क्षेत्र में महत्त्व दिया गया है और 'दोषाणां बहुसंसर्गात् संकीर्यन्ते ह्युपक्रमाः, षट्त्वं नातिवर्तन्ते' कहकर लंघन—वृंहण आदि को उपक्रम (चिकित्सा) के क्षेत्र में महत्त्व दिया गया है । यह स्मरणीय है कि चरकने 'लंघन वृंहणीय अध्याय' के बाद ही 'संतर्पणीय' का अध्याय रखकर निदान—चिकित्सा के व्यापक सिद्धान्तों का एक साथ अध्ययन प्रस्तुत किया है । यूँ तो सामान्यतः रूक्षण और स्वेदन अपतर्पक, तथा वृंहण, स्वेदन और स्तम्भन संतर्पक क्रियायें हैं तथापि एक निश्चित अर्थ में ही प्रयुक्त करने के लिए संतर्पण और अपतर्पण को निदान के क्षेत्र में ही रखना चाहिए ।

शाब्दिक अर्थ से तर्पण का अर्थ है तृप्त करना, पुष्ट करना, बढ़ाना, बनाये रखना आदि । इसके विपरित अपतर्पण है । इस प्रकार संतर्पण से वृद्धि और अपतर्पण से क्षय होने का आभास मिलता है । परन्तु प्रश्न तो यह है कि संतर्पण या अपतर्पण किसका ? ; दोष का या धातु और मलों का । पुनश्च जिन रोगों की

गणना संतर्पणोत्थ विकारों में की गई है उन में दोषवृद्धि तो सामान्य नियमानुसार मिलती है, परन्तु धातुवृद्धि नहीं मिलती । इसी प्रकार अपतर्पणोत्थ विकारों में धातुक्षय तो मिलता है परन्तु दोषक्षय नहीं; दोष की तो वृद्धि ही मिलती है । अतः यह कहना अधिक अच्छा है कि संतर्पणोत्थ विकारों में संतर्पण से कफ या पित्त की वृद्धि तथा अपतर्पणोत्थ विकारों में धातुक्षय और वातवृद्धि विशेष रूप से परिलक्षित होती है ।

संतर्पणोत्थ विकार

रोगनाम (च. सू. २३)	प्रधान दोष (च. सू. २०)	प्रधान दूष्य (च. सू. २८)
१ प्रमेह	कफ	मेद
२ पिडका	पित्त	रक्त
३ कोठ	पित्त-कफ	रस, रक्त
४ कण्डू	"	"
५ पाण्डु	पित्त	"
६ ज्वर	"	रस
७ कुष्ठ	त्रिदोष	रक्त आदि
८ आमप्रदोष	कफ	रस
९ मूत्रकृच्छ्र	वात	मूत्र
१० अरोचक	कफ	रस, रक्त
११ तन्द्रा	कफ	"
१२ क्लैब्य	"	शुक्र, रस
१३ अतिस्थौल्य	"	मेद
१४ आलस्य	"	रस
१५ गुरुगात्रता	"	"
१६ इन्द्रियाणां लेपः	"	"

१७ सोतसां लेपः	कफ	रस
१८ बुद्धेर्मोहः	"	रस, रक्त
१९ प्रलीमकः	"	"
२० शोफ	वात	"
२१ 'एवं विधाश्चान्ये व्याधयः' में कफ/पित्तज रोग	"	"

अपतर्पणोत्थ विकार

रोगनाम	मुख्य दोष	मुख्य दूष्य
१ ज्वर	पित्त	रस
२ कास	वात, कफ	रस
३ पार्श्वशूल	वात	रस
४ अरोचक	कफ	रस, रक्त
५ श्रोत्र दोर्वल्य	वात	रस
६ उन्माद	वात	रस
७ प्रलाप	वात	रस
८ हृदयव्यथा	"	रस
९ विट् संग्रह	"	विट
१० मूत्र संग्रह	"	मूत्र
११ जंघोरुत्रिक शूल	"	रस
१२ पर्वास्थि संधिभेद	"	रस
१३ अन्य वातरोग	"	रस, रक्त

यहाँ अवधेय है कि ज्वर और अरोचक को संतर्पणोत्थ विकारों में भी गिना गया है । अपतर्पणोत्थ विकारों में इनकी गणना मात्र लक्षण रूप में समझनी चाहिये । धातुक्षयावस्था में भी ज्वर और अरोचक लक्षण रूपेण रहते हैं ।

ऊपर दी गई तालिकाओं से एक बात स्पष्ट है कि कफ एवं पित्तज विकार संतर्पणोत्थ और वातज विकार अपतर्पणोत्थ बताए गए हैं । संतर्पण का कफ और पित्तवृद्धि के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध और अपतर्पण का धातुक्षय उत्पन्न करके वातवृद्धि करने के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध का तर्क भी स्वीकार्य है, कारण कि 'वायोः धातुक्षयात् कौपो' शास्त्रवचन से इसकी पुष्टि होती है । व्याधियों के 'आमाशयोत्थ' एवं 'पक्वाशयोत्थ' होने का सामंजस्य 'संतर्पणोत्थ' एवं अपतर्पणोत्थसे बैठाया जा सकता है । यहाँ यह भी अवधेय है कि पूर्वोक्त संतर्पणोत्थ २० रोगोंमें से प्रमेह, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, आदि कुछ सामान्यज विकार हैं और आलस्य, गुरुगात्रता, बुद्धेर्मोहः आदि नानात्मज विकार हैं या लक्षण मात्र हैं । इसी प्रकार अपतर्पणोत्थ विकारों में ज्वर, कास, अरोचक, उन्माद आदि सामान्यज विकार हैं और शेष नानात्मज या लक्षण मात्र हैं । ज्वर, कास और अरोचक यदि अपतर्पक कारणों से उत्पन्न हो तो उन्हें लक्षण रूप में समझना अधिक उचित है ।

द्रष्टव्य स्थल

- १ इहखलु निदान-दोष-दूष्य विशेषेभ्यो विकार भावाभाव प्रतिविशेषा भवन्ति । च. नि. ४ ।
- २ तस्योपलब्धिर्निदान-पूर्वरूप-रूपोपशय-सम्प्राप्तितः । च. नि. १ ।
- ३ निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा । सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पंचधास्मृतम्" अ. ह. नि. २ ।
- ४ तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे । च. नि. १
- ५ सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः । अ. ह. नि. १ ।
- ६ तत् त्रिविधम्-असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति । च. नि. १
- ७ कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगोमिथ्या न चाति च । अ. ह. नि. १

८. संक्षेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनम् । सु. उ. १
९. प्रसंगात् गात्रसंस्पृशति निःश्वासात् सहभोजनात् । सह शय्यासनाच्चापि वस्त्र माल्यानुलेपनात् ॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च । औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नराक्षरम् ॥ सु. नि. ५
- १० इह खलु हेतु निर्मित्तमायतनं, कर्ता, कारणं, प्रत्ययः, समुत्थानं, निदान-मित्यनर्थान्तरम् । च. नि. १ 713
- ११ मिथ्याहारविहारादि सामान्यं परिकीर्तितम् । विशिष्टं विष शस्त्राग्नि क्रिमि व्यालादि कीर्तितम् ॥ सिद्धान्त निदान, प्र. खण्ड ।
- १२ कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति । न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुते पि च ॥ च. नि. ८-२१
- निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते । तद्यथाज्वरसंतापाद्यक्तपित्तमृदीर्यते ॥ प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोफ एव च । अर्शेभ्यो जाठरं दुखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः । क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते ॥ च. नि. ८-१६-१९
- १३ एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैकएव हि । व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बहवोपि च । च. नि. ८-२४
- १४ ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधि लिंगानि संग्रहे । व्याधयस्ते तदात्वे तु लिंगानीष्टानि नामयाः ॥ च. नि. ८-४०
- १५ न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि, न च सर्वे दोषास्तुल्यबलाः, न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति । च. सु. २८-७
- १६ शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्यनिविष्ट मांसशोणतास्थीनि दुर्बलान्यासात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि च भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि । च. सू. २८-७

17 "The effect of the stimulus depends in great degree not only on the type of stimulus but on the state of the individual and his response. Some adopt more readily than others.....these data tell us how little we really know of the underlying factors producing host reactions"

"Still, the nature of the response may depend upon the state of the individual when stimulated, so that similar situations may have entirely different effect on two individuals or the same individual at different times."

Pathologic Physiology,
by-Sodeman, Third edition, Page-6

१८ रोगाः सर्वेपि मन्देग्नौ । वाग्भट - निदान - १२

१९ "A complete catalog of all the conditions outside the digestive tract capable of causing indigestion would serve to do little more than call attention to the fact that disease of practically all symptoms of the body may at times be accompanied by indigestion in one form or another."

Principles of Internal Medicine,
Harisson, Fifth edition,
(International Students' edition)

Page - 103

व्याधिजन्म पर्यन्तं शरीरे दोषाणां परिणाम परम्पराः सम्प्राप्तिः

वृद्धिगत दोषों से चय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय एवं व्यक्तिपूर्वक जिस प्रकार रोग की उत्पत्ति होती है, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। यह रोगोत्पत्ति का घटना क्रम है। इसके अन्तर्गत निदान और चिकित्सा के बीच की सभी घटनाओं का समावेश है। इस में संश्लेषतः दोष, दूष्य, स्रोतस, अधिष्ठान, आमाशयोत्थ, पक्वाशयोत्थ आदि बातों का रोगोत्पत्ति के दृष्टिकोण से वर्णन आता है। रोग सम्प्राप्तिपूर्वक ही हुवा करते हैं और सम्प्राप्ति विघटन ही 'चिकित्सा' है। सम्प्राप्ति, जाति, आगति, निवृत्ति एवं निष्पत्ति ये पर्यायवाची शब्द हैं। चरकने सम्प्राप्ति के पांच भेद किए हैं- (१) संख्या (२) विकल्प, (३) प्राधान्य (४) विधि और (५) बलकाल। वाग्भटने विधि का संख्यामें अन्तर्भाव किया है और बलकाल को पृथक् बल और काल माना है। इस प्रकार उनके द्रष्टिकोण से ५ भेद इस प्रकार हुए-संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल।

चरक-सूत्रस्थान-अष्टोदरीय (१९ वाँ अध्याय) में रोगों के भेदों की संख्या बताई गई है। यही संख्यासम्प्राप्ति है। पंचकास, पंचगुल्म, आठ प्रकार के ज्वर, पांच प्रकार के पाण्डु आदि रोग-भेद संख्या सम्प्राप्ति द्वारा समझाये जाते हैं।

दोषों की अशांशकल्पना करना विकल्प है। यह विशेषतः त्रिदोषज रोगों में काम आता है। किस दोष का कौन सा गुण - कर्म कितनी सीमा (उग्र, मृदु) तक प्रकृपित हुआ है-इसका ज्ञान विकल्प सम्प्राप्ति से होता है।

'प्राधान्य' भी किसी विशिष्ट दोष की उस रोग की उत्पत्ति में प्रधानता बताने के कारण त्रिदोषज रोगों में ही महत्त्व रखता है। त्रिदोषज

व्याधियों में जिस दोष की प्रधानता होती है उसके लक्षण भी प्रधान होते हैं ।

‘विधि’ प्रकार को कहते हैं, यथा व्याधियों के भेद-निज, आगन्तुक आदि; साध्यासाध्य आदि, मृदु दारुण आदि ।

बलकाल में व्याधि का उत्पत्तिकाल एवं उग्र होनेका काल समाविष्ट है । रोग का या दोषका दिन, रात्रि, ऋतु, वय आदि से सम्बन्ध स्थापित कर रोगोत्पत्ति एवं उसकी वृद्धि (उग्रता) का ज्ञान ‘बलकाल’ सम्प्राप्ति से किया जाता है ।

सुश्रुत का सम्प्राप्ति परक वर्णन

सुश्रुतने सम्प्राप्ति की छ अवस्थायें बताई हैं—संचय (चय), प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद । इन ६ में से भेदावस्था सम्प्राप्ति (व्याध्युत्पत्ति) के बाद की अवस्था है अतः इसे सम्प्राप्ति की अवस्था के रूप में नहीं भी ले सकते । यदि भेद का अर्थ वातादिभेद भी स्वीकार हो तो भेद को भी सम्प्राप्ति के अन्तर्गत ले सकते हैं । सुश्रुत ने छटा क्रियाकाल बतानेके लिए ही भेद को भी सम्प्राप्ति-अवस्थाओं के साथ जोड़ा है । वृद्ध वाग्भट और वाग्भटने सम्प्राप्ति की चय और प्रकोप ये दो ही अवस्थायें बताई हैं । यह चरक के ऋतुओं के अनुसार दोषों का चय-प्रकोप (प्रशम) से मिलता जुलता है । वाग्भट के टीकाकार श्री हेमाद्रिने प्रकोप में ही प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद को समाविष्ट माना है ।

रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया को सम्प्राप्ति कहते हैं । इस प्रक्रिया में दोष, दूष्य और स्रोतस भाग लेते हैं । इसी प्रक्रिया को तोड़ना सम्प्राप्ति-विघटन कहलाता है । सम्प्राप्ति विघटन करना ही चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य है । सम्प्राप्ति की अवस्थाओंमें से चय, प्रकोप, प्रसर तथा स्थानसंश्रय केवल

दोषों का होता है । स्थानसंश्रयावस्था में ही दोष दूष्य सम्मूर्च्छना होती है और यहीं से दूष्य का भी रोगोत्पत्ति में कर्तृत्व प्रारम्भ होता है । स्रोतस इन सभी अवस्थाओं से सम्बन्धित होते हैं । यूं तो सभी विकारों में सभी अवस्थाओं में दोष, दूष्य और स्रोतस का सम्प्राप्ति के दृष्टिकोण से समान महत्त्व है ।

चयावस्था

यह सम्प्राप्ति की प्रथम अवस्था है । इसके सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं ।

१ ‘चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव’ के अनुसार दोषों का चय अपने ही स्थानों में होता है । प्रत्येक दोष के ५-५ भेद किए गए हैं और उन भेदों के स्थान भी बताए गए हैं । प्रश्न है कि क्या कोठस्थ दोषों का ही चय होता है और वे ही स्वयं या अन्य भेदों का भी दुष्ट करके रोग उत्पन्न करते हैं ? या अवस्था विशेष के अनुसार दोषों के किसी भी भेद का अपने ही स्थान पर चय होता है, यथा पाचकपित्त का चय ग्रहणी में, भ्राजक पित्त का चय त्वचा में, श्लेष्मक कफका चय संधियों में, इत्यादि ।

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि दोषों का चय उनके कोष्ठस्थ स्थानों पर ही होता है । कफ का प्रधानस्थान आमाशय, पित्त का प्रधान स्थान ग्रहणी और वायु का प्रधान स्थान पक्वाशय है । सम्प्राप्ति की पहली अवस्था में मिथ्या आहार से दोषों का चय इन्हीं स्थानों पर होता है । इसके बाद इन्हीं से इनके अन्य भेदों की दुष्टि हो सकती है । वस्तुतः विभिन्न स्थानों पर विशिष्ट कार्य को बतानेके लिए ही दोषों के भेदों की कल्पना की गई है, अन्यथा दोष तो तीन ही हैं । क्योंकि चयावस्था कोष्ठ में प्रारम्भ होती है, इसीलिए व्याधियों को आमाशयोत्थ

(कफज और पित्तज रोग) तथा पक्वाशयोत्थ (वातज रोग) इन दोनों भागों में भी बांटा गया है। साथ ही चयावस्था को प्रथम क्रियाकाल बताया है और इस अवस्था में कोष्ठशुद्धि करनेका विधान है।

- २ किसी भी चीज का संचित होना उसकी गति या मार्ग में अवरोध का द्योतक है। व्याधि की उत्पत्ति में निदान के बाद चय का क्रम आता है। प्रश्न है कि दोषों के संचित होने के लिए अवरोध कब, किसने और कैसे उत्पन्न किया ?।

इस प्रश्न का यह उत्तर है कि आम का मुख्य कार्य स्रोतोरोध बताया गया है। आम अग्निमांद्य से उत्पन्न होता है और अग्निमांद्य निदान से उत्पन्न होता है। सभी रोगों के निदान बताए गए हैं जिनमें अग्निमांद्योत्पादक कुछ भाव अवश्य होते हैं और प्रायः सभी रोगों में अग्निमांद्य-रोगाः सर्वेऽपि मन्देग्नौ-तथा तृज्जन्य आम की उपस्थिति स्वीकार की गई है।

- ३ भोजन का पाचन भी पोष्य दोषों से ही होता है और उनका पोषण भी आहार (किट्ट) से ही होता है। आहार पर प्रथम पाचन क्रिया प्रारम्भ करने के लिए पोष्य कफ उत्तरदायी है जिससे भोजन पाचन की मधुरी भाव की अवस्था और इसी समय पोषक कफ की उत्पत्ति होती है जो कि अन्त में पोष्य कफ का पोषण करता है। इसी प्रकार अम्लीभाव की अवस्था में पित्त की और कुटुभाव की अवस्था में वायु की स्थिति समझनी चाहिए। महास्रोतस की भित्ति से निकलनेवाले सभी पाचक रस पोष्यभाव हैं। इस प्रकार धातु और मलों की तरह दोषों की भी पोष्य-पोषक कल्पना की गई है। प्रश्न है कि चय पोषक दोषों का होता है या पोष्य दोषों का ?।

इसका उत्तर यह है कि जब अग्निमांद्य से आम उत्पन्न होता है तब वह कोष्ठस्थ सूक्ष्म स्रोतों, रक्तवाहिनियों, रसायनियों या शोषण-अंकुरों में अवरोधात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। पोषक भावों का ठीक पाचन न होने से उनके शोषण में बाधा भी एक प्रकार की अवरोधात्मक प्रवृत्ति है। इस अवरोधात्मक प्रवृत्ति से पोषक दोषों का ही चय महत्त्व रखता है। यह भी संभव है कि एक और कोष्ठ में पोषक दोषों का चय हो और दूसरी ओर पोष्य दोषों का। इस संभावना से चय और प्रकोप पोषक और पोष्य दोषों का होगा और प्रसर की अवस्था में पोषक दोष पोष्य दोष से मिल जायेगा। स्थान संश्रय, व्यक्ति और भेद की अवस्था में दोनों मिश्रित रूप में कार्य करेंगे। स्वभावतः पोषक दोषों से विकृति का प्रारम्भ होनेके कारण उनका रोगोत्पत्ति में प्राथमिक और अधिक महत्त्व है।

- ४ दोषों के जो गुण वर्णित हैं उनकी विकृति से भिन्न भिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। पित्त उष्ण गुण से ज्वर, उष्ण और तीक्ष्ण गुण से रक्तपित्त, सरगुण से अतिसार तथा द्रवगुण से अग्निमांद्य कर सकता है। प्रश्न है कि चय सारे दोष का होता है या उसके विशिष्ट गुणयुक्त अंश का ?।

इसका आंशिक उत्तर निदान से दोषवृद्धि सिद्ध करते समय इससे पूर्व दिया जा चुका है। दोष की सर्वांगीण वृद्धि अथवा उसके एक या दो गुणों की वृद्धि हो सकती है। अधिकतर रोगों में किसी विशिष्ट गुण की ही वृद्धि होती है अतः उसी का अपेक्षाकृत अधिक चय माना है। वैसे तो अवरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण सारे दोष का चय तो होता ही है और तदनुकूल लक्षण भी मिलते हैं। परन्तु सरलता के लिए 'किसी विशिष्ट गुण का चय' कह सकते हैं।

५ चय के लिए अवरोध आम से उत्पन्न बताया गया है। अवरोध होने पर ही चय की कल्पना की गई है। यदि चय और प्रकोपावस्था में अवरोध था तो वह प्रसरावस्था में कैसे हट गया? अवरोध रहने पर तो दोषों का प्रसर हो नहीं सकता।

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रकोपावस्था में आम आमविष में परिवर्तित हो जाता है और यह आमविष स्वयं भी दोषों के साथ प्रसर करने लगता है। आमविष शरीर के सभी स्रोतों में विषवत् गति कर सकता है। चरकने ग्रहणी के अध्याय में इसका सुन्दर संकेत किया है। इस प्रकार अवरोध के हट जाने पर दोषों का प्रसर हो सकता है।

६ यदि प्रत्येक रोग के लिए सम्प्राप्ति की आवश्यकता होती है और सम्प्राप्ति 'चय' से प्रारम्भ होती है तो फिर क्षीण दोषों का चय सम्भव नहीं है, अतः दोषक्षय से रोग कैसे होता है?।

दोषक्षय से रोग उत्पन्न नहीं होते, यह बात 'विकारो धातुवैषम्यम्' के प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है। दोषक्षय एकदेशीय, अभावज या आवरणजन्य हो सकता है अतः उसका रोगोत्पत्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं आता है।

७ शास्त्रों में 'अचय-प्रकोप' का जो संकेत किया गया है और जो विशेषतः आगन्तुक व्याधियों में (मुख्यतः आघात से उत्पन्न व्याधियों में) मिलता है उसका अर्थ भी अल्पचय या अल्पकाल में चयपूर्वक प्रकोप करना चाहिए। चय चिकित्सा का प्रथम क्रियाकाल है, संचित दोषों की चिकित्सा करने का समय है।

प्रकोप

यह सम्प्राप्ति की दूसरी अवस्था है। इसमें दोषों का संचय बढ़ जाता है और दोष प्रसरण की तैयारी करने लगते हैं। इस अवस्था में आम आमविष में परिवर्तित होता है। यह द्वितीय क्रियाकाल है। इस अवस्था में भी कोष्ठस्थ लक्षणों की ही उत्पत्ति विशेषतः बताई गई है, यथा वायु की प्रकोपस्था में उदर में वेदना तथा उदर में वायु-प्रकोप; पित्त से अम्लोद्गार, तृषा तथा दाह, और कफ से अरुचि तथा उत्क्लेश उत्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में चरक चिकित्सास्थान १५/४२-४९ दृष्टव्य है। प्रकोपावस्था द्वितीयः क्रियाकालः है।

प्रसर

यह सम्प्राप्ति की तीसरी अवस्था है। आम के आमविष में बदलने पर अवरोध स्वतः हट जाता है क्योंकि आमविष सूक्ष्म तथा स्रोतोगामी है। दोष तथा यह आमविष कोष्ठ से शाखाओं में प्रसरण करता है। यह प्रसरण रक्तवाहिनियों या लसिकावाहिनियों से होता है। यदि कोष्ठस्थ विकार ही उत्पन्न होता हो तो दोष कोष्ठ में ही किञ्चित् प्रसरण करते हैं। ऐसी अवस्थाओं में अन्न, मल, (पुरीष) तथा आहार रस या रसघातु की दुष्टि विशेष होती है। दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में जाना और संशोधन चिकित्सा करने पर शाखाओं से कोष्ठ में आना वर्णित है। (च. सू. २८/३१, ३३)। दोषों की इन गतियों के लिए कई सहायक कारणों के साथ बात को विशेषतः उत्तरदायी माना गया है। यह वायु प्रकुपित दोषों को कोष्ठ से शाखाओं में ले जाता है। प्रसर अवस्था में यदि कोष्ठ में ही खवैगुण्य रहे तो वायु प्रकुपित दोषों को कोष्ठस्थ खवैगुण्य की ओर ही प्रेरित करता है और उससे कोष्ठस्थ व्याधियाँ ही उत्पन्न हो जाती हैं। आभ्यन्तर रोग मार्ग, मध्यम रोगमार्ग और बाह्यरोगमार्ग (च. सू. ११/४८) के वर्णन से भी यही अर्थ निकलता है कि प्रकुपित दोषों के प्रसरण के मुख्यतः तीन मार्ग हैं; कोष्ठ एवं कोष्ठांग,

अस्थि, संधि, सरा, रनायु आदि और धातुयें । कोष्ठांग भी मूल रूप में, तथा धातुयें भी स्रोतों से सम्बन्धित हैं । कोष्ठ भी प्रस्तुत प्रकरण में अन्नवह और पुरीषवह स्रोतस का संयुक्त स्वरूप है । इस प्रकार प्रसरण के लिए स्रोतस सर्वत्र व्याप्त हैं, परन्तु चय के लिए कोष्ठ तथा स्थानसंश्रय के लिए विभिन्न स्रोतों को बताना तथा उनका विशिष्ट दृष्टिकोण से वर्णन करना ही 'त्रयो रोग मार्गः' का अभिप्राय है । इस प्रकार दोष पूर्वोक्त तीन भागों में से किसी में वायु की सहायता से प्रसर करते हैं । यह तृतीय त्रियाकाल है ।

स्थानसंश्रय

यह संप्राप्ति की चतुर्थ अवस्था है और इसमें की जानेवाली चिकित्सा के लिए इसे चतुर्थ क्रियाकाल भी कहते हैं । "कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र संगः खवैगुण्यात्, व्याधिस्तत्रोपजायते" इस शास्त्रीय वाक्य से यह सिद्ध है कि शरीर में प्रसर करते हुए दोषों को (निदान के द्वारा उत्पन्न) खवैगुण्य मिलता है जहाँ वे स्थान संश्रय करते हैं । इसी समय दोष दूष्य सम्मूर्च्छना प्रारम्भ होती है और पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं । 'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनितो व्याधिः' के आधार पर व्याधि की उत्पत्ति स्थान-संश्रयावस्था में होती है और 'व्यक्ति' की अवस्था में व्याधि पूर्णरूप से प्रगट हो जाती है । संक्षेपतः स्थानसंश्रय की अवस्था में (१) दोषों का खवैगुण्य के स्थान पर रुकना, (२) दोष दूष्य सम्मूर्च्छना का प्रारंभ होना और (३) पूर्वरूपों की उत्पत्ति—ये तीन मुख्य घटनायें होती हैं ।

पूर्वरूपं प्रागुत्पत्ति लक्षणं व्याधेः

प्रवृद्ध दोष स्थानसंश्रय की अवस्था में भावि-व्याधि प्रबोधक जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें पूर्वरूप कहते हैं । जब दोष दूष्य सम्मूर्च्छना हो रही होती है तब पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं और जब सम्मूर्च्छना हो जाती है तब व्याधिबोधक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । सम्मूर्च्छना पूर्ण होने पर स्रोतोदुष्टि होती है अतः उसका (स्रोतोदुष्टि का) सम्बन्ध लक्षणों से स्थापित किया जाता है।

पूर्वरूपों से नहीं । पूर्वरूप दो प्रकार के होते हैं—सामान्य पूर्वरूप और विशिष्ट पूर्वरूप । सामान्य पूर्वरूप से होनेवाली व्याधि का संकेत मिल जाता है, यथा ज्वर के सामान्य पूर्वरूप मिलने पर ज्वर होगा ऐसा अनुमान करते हैं, परन्तु वातिकज्वर होगा, या पैत्तिक या कफज—यह अनुमान नहीं लगा सकते । विशिष्ट पूर्वरूप से भावि-व्याधि के विशिष्ट भेदों (वातज, पैत्तिक आदि) का भी अनुभव कर सकते हैं । ज्वर के सामान्य और विशिष्ट पूर्वरूपों का सुन्दर वर्णन है परन्तु विशिष्ट पूर्वरूप ३-४ रोगों के ही दिए गए हैं, सामान्य पूर्वरूप भी सब व्याधियों में वर्णित नहीं हैं जिस पर विचार करना आवश्यक है । यहाँ यह भी अवधेय है कि व्याधिका ज्ञान या विनिश्चय उसके प्रत्यात्म लक्षण और लक्षण समुच्चय के आधार पर होता है और इनका सम्बन्ध स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से स्थापित किया जाता है जो कि दोषदूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है । यह बात सम्मूर्च्छना पर ही निर्भर करती है कि किस प्रकार की स्रोतोदुष्टि होगी । इसीलिए सम्मूर्च्छना की अवस्था में उत्पन्न होनेवाले पूर्वरूपों से भावि व्याधि का ज्ञान होता है ।

क्योंकि प्रत्येक रोग में दोषदूष्य सम्मूर्च्छना होती ही है, अतः पूर्वरूप भी होने ही चाहिए, भले ही वे व्यक्त हों या अव्यक्त । उरःक्षत और वात-व्याधियों के प्रकरण में बताया गए 'अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्' को उन सब रोगों के लिए सामान्य नियम मान लेना चाहिए जिन में पूर्वरूपों का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है ।

रोगनाम	मुख्यदोष	मुख्यदूष्य	सामान्य	अशुकारी
१ प्रमेह	कफ	मेद	हैं	चि.
२ शोथ	वात	रस, रक्त	"	"
३ शीतपित्त	वात	रक्त	"	आ.
४ उदरद	कफ	रस, रक्त	"	"

५	कोठ	कफ	रस, रक्त	हैं	हैं	आ.
६	ज्वर	पित्त	रस	"	"	"
७	ग्रहणी	पित्त	रस, (अन्न)	"	"	चि.
८	राजयक्ष्मा	त्रिदोष	रस सर्वधातु	"	"	"
९	मूच्छ्रा	वात	रस, रक्त	"	"	आ.
१०	अपस्मार	वात, रज	रस, रक्त	"	"	"
११	ऊरुस्तंभ	कफ	रस	"	"	"
१२	तृष्णा	वात पित्त	रस, उदक	"	"	"
१४	अश्मरी	कफ	मूत्र	"	"	चि.
१५	वृद्धि	कफ (त्रिदोष)	रस	नहीं	नहीं	"
१६	अर्बुद	कफ (त्रिदोष)	मांस, मेद	"	"	"
१७	विद्रधि	पित्त (त्रिदोष)	रस, त्वक् मांस रक्त	"	"	"
१८	विसर्प	त्रिदोष	रस, रक्त त्वक् मांस	"	"	आ.
१९	अलसक	वात	रस, पुरीष	"	"	"
२०	विलम्बिका	वात	रस	"	"	"
२१	स्वरभेद	वात	रस, रक्त	"	"	"
२२	शूल	वात	रस	"	"	"
२३	उदावर्त	वात	अनेक	"	"	"
२४	वातव्याधियाँ	वात	रस, रक्त आदि	"	"	आ. चि.
२५	श्लीपद	कफ, वात	रस	"	"	चि.
२६	कुष्ठ	त्रिदोष	रस, रक्त, त्वक् मांस	है	"	"
२७	अतिसार	वात	पुरीष, उदक	"	"	आ.

२८	अर्श	वात, त्रिदोष	मांस	हैं	नहीं	चि.
२९	रक्तपित्त	पित्त	रक्त	"	"	आ.
३०	कास	वात, कफ	रस	"	"	आ.
३१	हिक्का	वात, कफ	रस	"	"	आ.
३२	श्वास	वात, कफ	रस	"	"	आ./चि.
३३	छर्दि	कफ, वात	रस, (अन्य)	"	"	आ.
३४	वातरक्त	वात	रक्त	"	"	चि.
३५	उदर	वात, (त्रिदोष)	रस, रक्त	"	"	आ.
३६	मेदोरोग	कफ	मेद	नहीं	"	चि.
३७	गलगण्ड	कफ	मांस, मेद	"	"	चि.
३८	अपची	त्रिदोष	रस, रक्त, त्वक् मांस	"	"	चि.
३९	ग्रंथि	कफ, वात	मांस भेद	"	"	चि.
४०	व्रणशोथ	वात	रस, रक्त	"	"	आ.
४१	अम्लपित्त	पित्त	रक्त	"	"	आ.
४२	विषूचिका	त्रिदोष	रस, अन्न	"	"	आ.
४३	कृमि	त्रिदोष	रस, रक्त, पुरीष	"	"	चि.
४४	दाह	पित्त	रक्त	"	"	आ.
४५	उन्माद	वात, त्रिदोष रज, तम	रस, रक्त (मांस)	"	"	आ.
४६	उरःक्षत	वात, त्रिदोष	रस, रक्त (मांस)	"	"	आ.

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गई इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वोक्त ४६ व्याधियों में से-

१. १४ व्याधियों में पूर्वरूपों तथा सामान्य लक्षणों का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

२. १० व्याधियों में पूर्वरूपों का वर्णन है परन्तु सामान्य लक्षणों का नहीं है ।
३. ११ व्याधियों में पूर्वरूप नहीं है परन्तु सामान्य लक्षणों का वर्णन है ।
४. ११ व्याधियों में पूर्वरूप तथा सामान्य लक्षणों का वर्णन नहीं मिलता है ।

पूर्वोक्त जिन व्याधियों में पूर्वरूप वर्णित हैं उनके सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रकरण में कोई प्रश्न नहीं है । जिन में पूर्वरूप नहीं है परन्तु सामान्य लक्षण हैं उन में 'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते' से सामान्य लक्षणों का मृदुरूप ही पूर्वरूप समझे जा सकते हैं जो कि अव्यक्त या अल्पव्यक्त होनेके कारण रोगी को मालूम नहीं पड़ते और इसलिए उनका वर्णन नहीं किया गया । जिन रोगों में पूर्वरूपों का भी वर्णन नहीं है और सामान्य लक्षणों का भी, उन में रोगपरक लक्षणों के आधार पर पूर्वरूप बनालेने चाहिए । पूर्वरूपों के सभी रोगों में स्पष्ट न होनेके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

- १ जो व्याधियाँ अल्पकालतक निदान सेवन से शीघ्र उत्पन्न (आशुकारी) होती हैं, उन में दोष द्रव्य सम्मूर्च्छना शीघ्र पूर्ण होजाती है, अतः पूर्वरूप बहुत अल्पकाल में समाप्त हो जाते हैं या अल्पबलवाले होते हैं, इसलिए वे स्पष्टतः परिलक्षित नहीं हो पाते; रोगीको उनका ज्ञान नहीं हो पाता । उदाहरणार्थ, अलसक, विलम्बिका, शूल, व्रणशोथ, विषूचिका, दाह आदि लिए जा सकते हैं । परन्तु जिन आशुकारी व्याधियों में दोषवृद्धि एवं दोष द्रव्य सम्मूर्च्छना उग्र होती है और दोष द्रव्य सम्मूर्च्छना जनित द्रव्य विशेष द्रव्यों में व्याप्त हो जाता है, उन में पूर्वरूप अल्पकाल के लिए स्पष्टतः परिलक्षित एवं ज्ञात होते हैं अतः

उनके पूर्वरूपों का वर्णन मिलता है, यथा ज्वर, विषूचिका शीतपित्त, रक्तपित्त, अतिसार, अपस्मार आदि ।

- २ प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना वाली व्याधियों में प्रायः पूर्वरूप और रूपों में विशेष अन्तर नहीं होता । उनमें अल्पवेग और अल्पसंख्या में ही पूर्वरूप व्यक्त हो सकते हैं और वे ही पूर्णव्यक्त होकर लक्षणों के रूप में सामने आते हैं । अतः सामान्य लक्षणों को ही मृदुरूप में पूर्वरूप समझासकते हैं । उदाहरणार्थ अम्लपित्त, उदावर्त सरभेद, उरःक्षत, ज्वर, रक्तपित्त आदि ।
- ३ जिन रोगों में पूर्वरूप भी वर्णित नहीं है और सामान्य लक्षण भी, उनके प्रत्यात्म लक्षण स्पष्ट हैं इस वर्गके रोगों में जो चिरकारी हैं, (यथा वृद्धि, अर्बुद विद्रधि, श्लीपद) उनकी उत्पत्ति और वृद्धि को देखा जा सकता है और स्थान, रजा तथा कफ वृद्धि के लक्षणों से उनके पूर्वरूप बताये जा सकते हैं । इसी प्रकार जो आशुकारी व्याधियाँ हैं और जिनके पूर्वरूप और सामान्य लक्षण वर्णित नहीं है (यथा—अलसक, विलम्बिका, स्वरभेद, शूल, उदावर्त) उनमें भी प्रत्यात्म लक्षणों तथा वायु के आधार पर पूर्वरूप बनाये जा सकते हैं ।

इस प्रकार सभी रोगों में पूर्वरूपों की स्थिति स्वीकार की जाती है ।



प्रादुर्भूत लक्षणं पुनर्लिङ्गम्

व्यक्ति

यह संप्राप्ति की पांचवीं अवस्था है। इसमें दोष दूष्य सम्मूर्च्छना पूर्णरूप से हो चुकी होती है। दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से स्रोतोदुष्ट और पश्चात् प्रत्यात्म लक्षण तथा लक्षण समुच्चय उत्पन्न होते हैं जिनके आधार पर विशिष्ट रोग का विनिश्चय किया जाता है। व्यक्ति की अवस्था में की जानेवाली चिकित्सा को ही चिकित्सा के अध्यायों में शास्त्रों में वर्णित किया गया है। व्यक्ति की अवस्था को 'पंचम क्रियाकाल' भी कहते हैं। इस अवस्था में (१) दोष दूष्य सम्मूर्च्छना का पूर्ण होना, (२) स्रोतोदुष्ट तथा उसके लक्षणों का प्रगट होना एवं (३) रोग के लक्षण समुच्चय का प्रगट होना—ये तीन मुख्य घटनायें हुवा करती हैं। रोगी 'व्यक्ति' अथवा 'भेद' की अवस्थाओं में ही चिकित्सक के पास या आतुरालयों में आते हैं। विषय से अत्यन्त सम्बन्धित होने के कारण व्याधि के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करेंगे।

व्याधि किसे कहते हैं

'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनितो व्याधिः' यही व्याधि की उत्तम परिभाषा है। सम्मूर्च्छना से शरीरस्थ दोष, धातु, मल तथा स्रोतस में जो विकृति आती है उसी को शरीर लक्षणों के रूप में प्रगट करता है। शारीरिक व्याधियों में तो यह नियम माना जा सकता है और क्योंकि दोषादि सभी द्रव्य हैं अतः विकृति या रोग भौतिक प्रकार के हैं। रोग कोई भाव-वाचक संज्ञा नहीं है। लक्षणों का, विशेषतः अनूभूतियों का भौतिक स्वरूप नहीं होता। अर्थात् शूल, दाह, हृल्लास, गौरव, आलस्य, भ्रम आदि सभी लक्षण तदुत्पादक विकृति की ओर संकेत करते हैं और चिकित्सा विकृति की जाती है, लक्षणों की नहीं। जो लक्षण भौतिक हैं, चिकित्सक उनका ज्ञान रोगी की परीक्षा करके कर लेता है। भौतिक लक्षण—यथा नख, नेत्र

आदि पाण्डु वर्ण के हों, जिह्वा मालिन्य, यकृत वृद्धि आदि। इन विकृतियों से भी रोग का सम्बन्ध स्थापित कर रोग विनिश्चय किया जाता है। चिकित्सा से सम्प्राप्ति विघटन करके या सीधे ही सम्मूर्च्छना को तोड़कर रोगी को लाभ पहुंचाया जाता है।

दोष, धातु तथा मलों के भौतिक एवं रासायनिक गुणकर्मों का वर्णन मिलता है। दोषादिकों के जो गुण बताए गए हैं उन्हींमें से भौतिक एवं रासायनिक गुणों को पृथक् पृथक् करके समझा जा सकता है। जब दोष दूष्य सम्मूर्च्छना होती है तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सम्मूर्च्छना कितने प्रकार की होती है। इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि सम्मूर्च्छनासे लक्षण उत्पन्न होते हैं जो कि (१) प्रकृति सम समवेत तथा (२) विकृति विषम समवेत—इस तरह दो प्रकार के बताए गए हैं अतः तदुत्पादक सम्मूर्च्छना भी दो प्रकार की होनी चाहिए। (१) प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना और (२) विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना। दोष और दूष्य की भौतिक (physical) प्रकार की सम्मूर्च्छना को प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना कहना चाहिए और ऐसे रोगों में प्रकृति सम समवेत लक्षण मिलेंगे। प्रकृति सम समवेत लक्षणों को उस रोग में कार्यकर दोष, दूष्य एवं स्रोतस की दुष्टि के लक्षणों से मिलाया जा सकता है, यथा ज्वर के सभी लक्षणों को देखें तो कुछपित्तवृद्धि के, कुछ रसदुष्टि के और कुछ रसवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण हैं। दोष और दूष्य की रासायनिक (Chemical) प्रकार की सम्मूर्च्छना को विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना कहना चाहिए और ऐसे रोगों में विकृति विषम समवेत लक्षण मिलेंगे, यथा प्रमेह में जो लक्षण हैं वे सभी लक्षण कफ, मेद एवं मेदोवह स्रोतस की दुष्टि के लक्षणों से नहीं मिलते। प्रमेह का प्रत्यात्म लक्षण 'प्रभूताविल मूत्रता' स्वयं एक विकृति विषम समवेत लक्षण है। क्योंकि प्रकृति सम समवेत लक्षणों से किसी विशिष्ट दोष, दूष्य तथा स्रोतस की दुष्टि का अनुमान हो जाता है अतः उसमें दोष की चिकित्सा सरलतया की

जा सकती है और इस तरह ऐसे रोगों में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा की जा सकती है अथवा प्रयुक्त औषध के कार्यों की दोष प्रत्यनीक चिकित्सा के दृष्टिकोण से व्याख्या की जा सकती है। स्वभावतः इस में बहुत औषधियाँ आ जाती हैं और बहुत रोग भी आ जाते हैं। शास्त्रों में भी दोष प्रत्यनीक चिकित्सा को प्राथमिकता दी गई है। विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छनावाले रोगों में विशेषतः व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है। दोष प्रत्यनीक चिकित्सा को रस, गुण वीर्य, विपाक से समझाया जा सकता है जब कि व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा को 'प्रभाव' से समझाया जाता है। जब प्रभाव या विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना का स्वरूप सामने आयेगा तब उसकी चिकित्सा की भी रस गुणानुसार व्याख्या की जा सकेगी।

रोग और लक्षण

लक्षणों से रोग का ज्ञान किया जाता है। लक्षण चयावस्था से ही प्रारम्भ होते हैं परन्तु उन्हें रोगनाम तब दिया जाता है जब दोष दूष्य सम्मूर्च्छना हो चुकी हो। परन्तु यह कैसे कहा जाय कि यह रोग है या लक्षण?। यदि आविष्कृततम रोग होगा तो उस का प्रत्यात्म लक्षण तथा लक्षण समुच्चय अवश्य मिलना चाहिए। यदि केवल लक्षण रूप में होगा तो वह थोड़ी देर तक रहनेवाला या पश्चात् रोग में परिवर्तित होनेवाला होगा; तब भी उसकी चिकित्सा रोगवत् की जाती है। रोग के प्रत्यात्म लक्षण का दोष दूष्य सम्मूर्च्छना के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहता है, शेष लक्षणों को उस रोग के लक्षण समुच्चय में स्थान मिलता है। प्रत्येक लक्षण रोग भी हो सकता है और लक्षण भी, यथा-श्वास। श्वास लक्षण के रूप में पाण्डु जलोदर, आध्मान, हृद् रोग, सान्निपातिक ज्वर, यक्ष्मा, क्षतज कास, आमाशय गत वात, त्रिदोषज छर्दि, कण्ठ शुण्डी, तालुपाक, मेदोवृद्धि, प्लीहोदर या यकृदाल्युदर, अतिसार तथा विषूचिका आदि रोगों में मिलता है। परन्तु

श्वास रोग के प्रत्यात्म लक्षण-सशब्दश्वास, बैठने से आराम और लेटने से कष्ट, कफ निकलने पर कुछ आराम तथा वेग के रूप में होना पूर्वोक्त रोगों में उपलब्ध श्वास में नहीं मिलते। इसी प्रकार उदरोत्सेध लक्षण कई रोगों में, यथा-जलोदर, आनाह, आध्मान उदावर्त, गर्भ, ग्रंथि, अर्बुद आदि में मिल सकता है परन्तु यदि परिवृत्त नाभि, उदर-आकोटन से दृतिवृत्त क्षोभ, कम्प और शब्द मिले तो यह उदरोत्सेध जलोदर का ही लक्षण है ऐसा समझा जाता है। किसी भी रोग, लक्षण या उपद्रव को समझाने के लिए दोष, दूष्य तथा स्रोतस को ध्यान में रखना चाहिए। पूर्वोक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हुई कि (१) लक्षण एक है और रोग में कई लक्षण होते हैं; (२) लक्षण चयादि अवस्था से प्रारम्भ हो जाते हैं और तब वे केवल दोषपरक होते हैं जब कि रोग स्थानसंश्रय और व्यक्ति की अवस्था में दोष दूष्य सम्मूर्च्छना होनेपर उत्पन्न होते हैं; (३) प्रत्येक लक्षण एक रोग भी हो सकता है और प्रत्येक रोगवाचक संज्ञा एक लक्षण के रूप में भी मिलती है और इसीलिए यदि प्रत्यात्म लक्षण तथा लक्षण समुच्चय मिले तो रोग अन्यथा लक्षण समझना चाहिए। व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा में लक्षण समुच्चय के आधार पर रोग विनिश्चय करना बहुत आवश्यक है क्योंकि श्वास यदि रोग रूप में है तभी उसकी व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा से उसमें लाभ होगा अन्यथा नहीं। इसीलिए लक्षण और रोग को समझना आवश्यक है। दोष दूष्य सम्मूर्च्छना तथा उससे उत्पन्न होनेवाली स्रोतोगत विकृति का नाम रोग है। स्रोतस में सभी स्रोतस, स्रोतोमूल तथा अधिष्ठानों का समावेश है। इन विकृतियों से कई लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं जिनका सम्बन्ध दोषों, दूष्यों या स्रोतों के साथ स्थापित किया जा सकता है या विकृति विषम समवेत लक्षण माना जा सकता है। सम्मूर्च्छना एवं स्रोतोदुष्टि किसी भी रोग के प्रत्यात्म लक्षणों को पैदा करते हैं। रोग की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न लक्षणों को 'लक्षण' कहा गया है और रोगोत्पत्ति के पश्चात् उस रोग के दोष, दूष्य अथवा स्रोतस अधिक विकृत होकर या अन्य स्रोतों की विकृति होने से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं

उन्हें उपद्रव कहते हैं। उपद्रव इस बात की और संकेत करते हैं कि रोग अपनी सीमा का उल्लंघन कर रहा है जो कि उसके अधिक कष्टदायक और दुश्चिकित्स्य बनने की और संकेत करता है। अतएव उपद्रव स्थूल हो या अणु, उसकी ओर तुरन्त ध्यान देने और उसकी चिकित्सा करनेका विधान है।

व्याधि का आशुकारित्व और चिरकारित्व

निदान के सेवन से बहुत कम समय में उत्पन्न होनेवाले; चिकित्सा करनेसे शीघ्र ठीक होनेवाले तथा चिकित्सा में विलम्ब करने पर शीघ्र मृत्यु करनेवाले रोगों को 'आशुकारी' कहते हैं। इन आशुकारी व्याधियों में जो दूष्य होता है प्रायः तद्वह स्रोतस में ही स्थानसंश्रय होता है और प्रायः एक ही स्रोतस अधिक दुष्ट होता है। आशुकारी व्याधियों में अतिसार, विषूचिका ज्वर, अलसक, विलम्बिका, शूल, तृष्णा, छर्दि, मूच्छा, उरःक्षत, मदात्यय आदि व्याधियों को ले सकते हैं।

निदान के अधिक दिन तक सेवन करने से उत्पन्न और अधिक कालतक चिकित्सा करने पर ठीक होनेवाले रोगों को 'चिरकारी' कहते हैं। इनमें कई स्रोतस दुष्ट हो सकते हैं; अवयव सम्बन्धी विकृति हो सकती है तथा जो दूष्य होता है तद्वह स्रोतस से भिन्न स्रोतस में भी अधिष्ठान हो सकता है। चिरकारी व्याधियों में ग्रहणी, उदररोग, अर्श, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, कामला, श्वास, वातव्याधि आदि रोगों को ले सकते हैं।

सम्प्राप्ति की भेदावस्था

यह सम्प्राप्ति की छठी अवस्था है। शल्यतंत्र में भेद का सम्बन्ध व्रणभाव के प्राप्त होने से विशेष है। रोगों की जीर्णता भी भेद से अभिप्रेत हो सकती है। रोग के दोषानुसार भेद करना, यथा वातिक कास, पैतिक कास आदि, भी

भेद के अन्तर्गत समझा जाता है। यह 'षष्ठ क्रियाकाल' भी कहा जाता है। रोग का साध्य या असाध्य में परिणत होना भी भेद के अन्तर्गत समझना चाहिए। आचार्यश्री यादवजी त्रिकमजीने अपनी पुस्तक 'आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान (पूर्वार्ध)' में भेदावस्था को सम्प्राप्ति के अन्तर्गत नहीं लेने का विचार व्यक्त किया है, क्योंकि रोगोत्पत्ति के बाद भेदावस्था का क्षेत्र है जब कि सम्प्राप्ति का क्षेत्र रोगोत्पत्ति तक ही है पश्चात् नहीं।

स्रोतोदुष्टि

'तदेतत् स्रोतसां प्रकृति भूतत्वान्न विकारै रुपसृज्यते शरीरम्' से रोगोत्पत्ति में स्रोतोदुष्टि का होना आवश्यक बताया गया है। यतः प्रत्येक रोग में स्रोतोदुष्टि होनी ही चाहिए, अतः प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में तन्निर्देशक वर्णन अवश्य मिलना चाहिए। चरकने स्रोतस के निम्नलिखित पर्याय गिनाये हैं - 'स्रोतांसि, सिरा, धमन्यः, रसायन्यः, रसवाहिन्यः, नाड्यः, पन्थानः, मार्गाः, शरीर छिद्राणि संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः, निकेताः श्चेति शरीर धात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति'। इन्हींमें से किसी भी पर्याय से सम्प्राप्तियों में स्रोतोदुष्टि बताई गई है। जहाँ स्पष्टतः किसी स्रोतस की विकृति का संकेत सम्प्राप्ति वर्णन में न मिलता हो वहाँ दूष्यों के आधार पर स्रोतस की दुष्टि का अनुमान करना चाहिए।

विभिन्न रोगों की सम्प्राप्ति में प्रयुक्त स्रोतोदुष्टि सूचक शब्दों को नीचे तालिका में प्रस्तुत किया गया है-

१	स्रोतांसि रुधिरादीनाम् ।	राजयक्ष्मा	च. चि. ८/२९
२	स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि ।	उन्माद	" ९/१
३	धमनीःभि सूता दोषाः ।	अपस्मार	" १०/६
४	वाह्याः सिरा प्राप्य यदा कफासृक् ।	शोथ	" १२/८

५	स्रोतषां दूषणात् ।	उदररोग	च. चि.	१३/१४
६	रुद्धवा स्वेदाम्बुद्धाहीनि, दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।	उदररोग	,,	१३/२०
७	स्रोतः सु तक्रगृद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः । अर्श	,,	,,	१४/८५
८	श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् ।	शाखाश्रित	,,	१६/१२५
		कामला		
९	हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ । हिक्का श्वास	,,	,,	१७/८
१०	मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।	,,	,,	१७/१७
११	यदा स्रोतांसि संरुद्धय ।	श्वास	,,	१७/४५
१२	अधः प्रतिहतो वायुरुर्ध्वं स्रोत समाश्रितः । कास	,,	,,	१८/६
१३	मूत्रस्वेदो पुरीषाशयमुपहृत्य ।	अतिसार	,,	१९/५
१४	वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्धः ।	छदि	,,	२०/७
१५	रसायनीभि विस्तृतं प्रपीड्य ।	छदि	,,	२०/१०
१६	यस्मिन्श्चावकाशो विसर्पो विसर्पति ।	विसर्प	,,	२१/३०
१७	रसवाहिनीश्च...संशोष्य ।	तृष्णा	,,	२२/७
१८	मद्यं हृदयमाविश्य ।	मदात्यय	,,	२४/२९
१९	रुद्धः स्रोतसु मारुतः ।	मदात्यय	,,	२४/११७
२०	बहि मार्गं समाश्रित्य ।	व्रण	,,	२५/१०
२१	स्रोतांस्यधोगामि बली स रुद्धवा ।	उदावर्त	,,	२६/५
२२	मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति ।	मूत्रकृच्छ्र	,,	२६/३३
२३	देहे स्रोतांसि रिक्तानि ।	वातव्याधि	,,	२९/१८
२४	रक्ततेनावारितः पथि ।	वातरक्त	,,	२९/१०
२५	रसः स्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय ।	ज्वर	च. नि.	१/२०

२६	लोहितवहानांस्रोतसां...प्रतिरुन्ध्यात् । रक्तपित्त	च. नि.	२/४
२७	स प्रकुपितो वायुः महास्रोतोनुप्रविश्च । गुल्म	,,	३/७
२८	मूत्रवहानां स्रोतसां...प्रतिरुन्ध्यात् । प्रमेह	,,	४/८
२९	दोषाः प्रकुपिताः स्थान मधिगम्य । कुष्ठ	,,	५/३

713

उपर्युक्त सम्प्राप्ति वाक्यों में विभिन्न शब्दों द्वारा स्रोतोदुष्टि का संकेत किया गया है । कुछ में तो स्रोतोदुष्टि प्रकार भी बतला दिया गया है, यथा—उदररोग, उदावर्त, शाखाश्रित कामला तथा श्वास में । परंतु अन्यो में स्रोतोदुष्टि के प्रकार का संकेत नहीं किया गया है । लक्षणों के आधार पर सभी रोगों में, जो यहां नहीं गिनाये गए हैं उन में भी, स्रोतोदुष्टि और उसके प्रकार का अनुमान कर लेना चाहिए ।

स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में अन्तर

यद्यपि शाब्दिक अर्थ से ये दोनों शब्द पर्यायवाची लगते हैं, परन्तु इन में स्पष्ट अन्तर है । खवैगुण्य निदान के एक विशिष्ट अंश से होता है और यह सम्प्राप्ति की स्थानसंश्रयावस्था के लिए आवश्यक है । स्रोतोदुष्टि दोष दूष्य—समूर्च्छना से उत्पन्न होती है और यह सम्प्राप्ति की 'व्यधित' की अवस्था में होती है । निम्नलिखित तालिका से संक्षेपतः दोनों में अन्तर दिखाया गया है ।

खवैगुण्य

स्रोतोदुष्टि

१ यह दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से पूर्व की अवस्था है ।	१ यह दोष दूष्य सम्मूर्च्छना के बाद की अवस्था है ।
२ यह दोषों के स्थानसंश्रय के लिए आवश्यक है ।	२ यह लक्षणों की व्यक्ति के लिए आवश्यक है ।
३ यह निदान के एक विशिष्ट अंश से उत्पन्न होता है ।	३ यह दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होती है ।

- ४ शास्त्रों में इसके ज्ञान के लिए कोई लक्षण निर्दिष्ट नहीं है ।
 ५ स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इस के पूर्व अस्तित्व का अनुमान होता है ।
- ४ स्रोतोदुष्टि के चार लक्षण या प्रकार बताए गए हैं ।
 ५ स्रोतोदुष्टि के लक्षणों से इसका ज्ञान होता है ।

ऊपर दी गई तालिका से स्रोतोदुष्टि और खवैगुण्य में स्पष्ट अन्तर प्रतिपादित किया गया है ।

स्रोतोदुष्टि के प्रकार

स्रोतोदुष्टि चार प्रकार की बताई गई है; अति प्रवृत्ति, संग, सिराग्रंथि और विमार्गगमन । अतिप्रवृत्ति, संग और विमार्गगमन स्रोतों में रहनेवाले दूष्यों का होता है परन्तु सिराग्रंथि स्रोतस में ही वैकारिक रूप में उत्पन्न होती है । आघात से या संग से विमार्गगमन हो सकता है और निज व्याधियों में विमार्गगमन प्रायः संग पूर्वक ही होता है । अतः मुख्यतः अतिप्रवृत्ति और संग ही अधिक होते हैं, इन में से भी संग सब से अधिक व्याधियों में मिलता है कारण कि प्रायः सभी विकारों में अग्निमांद्य और तज्जन्य आम की कल्पना की गई है और यह आम स्रोतों में संग उत्पन्न करता है ।

अतिप्रवृत्ति

दूष्य की एकस्थानीय वृद्धि से या स्रोतस की गति बढ़ जानेसे दूष्य का अधिक मात्रा में या / और बार बार प्रवृत्त होना (बाहर निकलना) अति प्रवृत्ति कहलाता है । स्रोतोदुष्टि का यह प्रकार अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, प्रमेह, प्रदर, असृग्दर रोगों में मिलता है । जिन बहिर्मुख स्रोतों से जो दूष्य स्वस्थावस्था में भी निकलते हैं उन्हीं की अधिक और / या बार बार प्रवृत्ति को अतिप्रवृत्ति कहते हैं ।

संग

संग का अर्थ है अवरोध, रुकावट या रुक जाना । किसी भी स्रोतस में अवरोध होने से तत्रस्थ दोष एवं दूष्य ठीक प्रकार से गति नहीं कर सकते 'दूष्य में दोष दूष्य सम्मूर्च्छना से विकृति आने पर भी इसी प्रकार की संगात्मक प्रवृत्ति भी पैदा हो सकती है । संग अधिक होनेपर दूष्य का विमार्गगमन हो जाता है, यथा-श्वास, जलोदर, शोथ आदि में । संग की स्थिति में दोष या दूष्य के एकस्थानीय वृद्धि और अन्यस्थानीय क्षय के लक्षण मिलते हैं, यथा-शोथ में शोथयुक्त भाग में रसवृद्धि के तथा हृद्द्रवत्व, रौक्ष्य, आयासज श्वास से रसक्षय के लक्षण मिलते हैं । इसी प्रकार जलोदर में उदर में जलवृद्धि तथा तृषा, रौक्ष्य आदि से उदक के क्षय का ज्ञान; इसी प्रकार ज्वर में त्वचा में ऊष्मा की वृद्धि और आमाशय में ऊष्मा का क्षय (अग्निमांद्य); शाखाश्रित कामला में त्वचा में रक्त के प्रलभूत पित्त की वृद्धि तथा आँत्रों में उसके क्षय के लक्षण (तिल पिष्ट निभंवर्चः, श्वेत वर्चः) । संग के अधिक होने पर ही एकस्थानीय वृद्धि तथा अन्यस्थानीय क्षय के लक्षण मिलते हैं; संग अल्प हो तो नहीं मिलते । रोगों या लक्षणों की उत्पत्ति के साथ स्रोतोदुष्टि का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है ।

१ संग विशेषतः अधिक आमविष से युक्त सम्मूर्च्छना से उत्पन्न होता है, यथा श्वास, कास, जलोदर, ज्वर, शोथ आदि में ।

२ कई व्याधियों में आमविष से किसी स्रोतस या स्रोतोमूल में संगात्मक विकृति आ जाती है और वह स्रोतस या अवयव शोथयुक्त या शोथ शान्ति के बाद व्रणवस्तुयुक्त बनकर संग के लक्षण पैदा करते हैं, यथा हृद्दरोग तथा यकृदाल्युदर में । ऐसी अवस्थायें प्रायः असाध्य होती हैं ।

३ समीपवर्ती स्रोतस या अवयव से दूसरे स्रोतस पर दबाव पड़ने से भी

संगात्मक लक्षण पैदा हो जाते हैं, यथा आध्मान या जलोदर में श्वास, अजीर्ण में हृत्पीडा आदि ।

पूर्वोक्त १, २, संग प्रधान व्याधियों में, और नं. ३, संग प्रधान लक्षणों में मिलते हैं । सामान्यतः संग्तात्मक व्याधि हो या लक्षण, उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध आम से स्थापित किया जाता है ।

निम्नलिखित व्याधियों में स्रोतोदुष्टि का 'संग' लक्षण मिलता है श्वास, कास, प्रतिश्याय, उरःशूल, उदररोग, अग्निमांघ, छर्दि, शूल, ज्वर, शोष, पाण्डु, हृद्रोग, कामला, (शाखाश्रित), शोथ, कुष्ठ, दद्रु, विचर्चिका, पामा, पाददारि, विद्रधि, शीतपित्त, शिरःशूल अर्धविभेदक, अर्श, अर्बुद, अपची, ग्रंथि, गण्डमाला, श्लीपद, मेदोरोग, वातरक्त, विबन्ध, आनाह, आध्मान, जलोदर, भ्रम, गृध्रसी, उदावर्त, अश्मरी आदि ।

संग और आवरण में विभेददर्शक तालिका

संग	आवरण
१ दोष तथा दूष्यों का स्रोतस में सकना ।	१ दोषों के द्वारा दूष्यों का या दोषोंका आवरण ।
२ दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनित स्रोतो-दुष्टि का एक प्रकार है । इस में दोषों तथा दूष्यों की प्राकृत गति में बाधा आती है ।	२ एक प्रवृद्ध दोष दूसरे दोष या धातु को आवृत कर देता है जिस से आवृत दोष या दूष्य कार्य नहीं कर पाता ।
३ जिस दोष या दूष्य का संग हुवा हो, उसके एक स्थान में वृद्धि के लक्षण और अन्यत्र क्षय के लक्षण मिल सकते हैं ।	३ आवृत के लक्षण क्षीण या विल्कुल नहीं, आवरण के लक्षण उग्र होते हैं ।
४ संग के बाद विमार्गगमन सम्भव है ।	४ आवरण से विमार्गगमन नहीं होता है ।

५ दीपन-पाचन तथा स्रोतः शोधी पाच्य आवरण की चिकित्सा से लाभ चिकित्सा से लाभ होता है ।

६ संग आम से होता है । ६ आवरण दोषों तथा दूष्यों से होता है ।

आयुर्वेद में आवरण का विस्तृत वर्णन है और कई वातव्याधियों में इसकी व्याख्या की जा सकती है ।

विमार्गगमन

दूष्य का (तथा दोषों का) अपने स्रोतस से बाहर निकलना विमार्गगमन कहलाता है; यथा-श्वास, शोथ, रक्तपित्त, जलोदर में । विमार्गगमन स्रोतस की भित्ति की प्रवेश्यता बढ़जाने से या आघात लगने से स्रोतस की भित्ति के टूट जाने पर होता है । दूष्य के एक स्थान पर अधिक संचित होने से भी स्रोतस पर दबाव पड़कर स्रोतस की प्रवेश्यता बढ़ जाती है और उस दूष्य का विमार्गगमन हो जाता है । विमार्गगमन निम्नलिखित व्याधियों में मिलता है-जलोदर, शोथ, रक्तपित्त, कामला (शाखाश्रित) आदि । अवधेय है कि इन सब रोगों में संगपूर्वक विमार्गगमन हुवा करता है । आघात लगने पर रक्त का निकलना भी रक्त का विमार्गगमन कहलाता है । विमार्गगमन, विलोमगति या प्रतिलोमगति अथा आशयापकर्ष-इन शब्दों का कई स्थलों पर एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया मिलता है । फिर भी, इन में कुछ अन्तर नीचे दी गई तालिका में बताया गया है ।

विमार्गगमन

आशयापकर्ष

विलोम / प्रतिलोम गति

१ विशेषतः दूष्योंका ।	विशेषतः दोषों का ।	केवल दोषों की, उन में भी विशेषतः वायु की ।
२ स्रोतससे बाहर जाना (जलोदर) या उसी	एक स्रोतस या अवयव से दूसरे स्रोतस का अवयव	स्रोतस से बहिर्गमन नहीं

- स्रोतस को या स्रोतो- मूल आदिको फँलाना और पश्चात् उसमें स्थिर हो जाना (श्वास) में खींचा जाना । होता, अपितु स्रोतसमें हा विपरीत गति ।
- ३ स्रोतोदुष्टके लक्षणों में गिनाया गया है, अतः इसमें स्रोतोविकृति भी होती है । स्रोतोदुष्ट के लक्षणों में नहीं गिनाया गया है । स्रोतोदुष्ट के लक्षणों में नहीं गिनाया गया है ।
- ४ संग या आघात से । बिना संग तथा आघात के । संगपूर्वक या बिना संग के भी ।
- ५ स्रोतोदुष्ट एवं तत्रस्थ दूष्य की स्थानिक वृद्धि महत्त्वपूर्ण । जो दोष दूसरे दोष को अपने आशय में खींचता है, उस दोष तथा आशय का अधिक महत्त्व । स्वयं दोष का ही अधिक महत्त्व ।

इस तालिका के आधार पर इनमें विभेद किया जा सकता है ।

सिराग्रंथि

इनमें स्रोतसमें रचना सम्बन्धी विकृति हो जाती है और उनमें ग्रंथिवत् विकृति दीखती है । यह अर्शमें ही विशेषतः मिलती है । कृमिज हृदयरोगमें भी 'ग्रंथिस्तत्रोपजायते' लिखा हुआ है ।

स्रोतोदुष्टके चार प्रकारोंमें से संगप्रधान व्याधियोंकी संख्या सबसे अधिक है । संग प्रायः आमसे (आमविषसे) और आम अग्निमांद्यसे होता है

अतः अधिकतर व्याधियोंमें अग्निमांद्यकी उपस्थिति मिलती है ।

अवधेय : स्रोतोदुष्ट दोष दूष्य सम्मूर्च्छनासे होती है । जिस स्रोतसमें (निदानके द्वारा उत्पन्न) खवैगुण्य रहता है उसीमें दोषोंका स्थानसंश्रय होता है; सम्मूर्च्छना होती है और स्रोतोदुष्ट होती है । यह सम्मूर्च्छना पर, तथा किस प्रकारका खवैगुण्य है इसपर, निर्भर करता है कि स्रोतोदुष्टका कौनसा लक्षण प्रगट होगा । इसका यह अर्थ हुआ कि खवैगुण्य सभी रोगोंमें एक ही प्रकारका नहीं हो सकता । अतिसारके निदानसे अतिसार ही उत्पन्न होगा—यह कहना इस बातका विश्वास दिलाना है कि उसमें होनेवाली दोष दूष्य सम्मूर्च्छनासे पुरीषवह स्रोतसका दुष्टलक्षण—अतिवृत्ति—ही मिलेगा । चिकित्साके दृष्टिकोणसे धातुवर्धक आहार विहार उनके स्रोतोंको बल देनेवाले भी होते हैं । रसवर्धक आहार विहार रसवह स्रोतोंका बलवर्धक भी होगा—इसी प्रकार सर्वत्र समझें । इसीलिए, यद्यपि सभी स्रोतोंकी चार प्रकारकी दुष्टता बताई गई है, चिकित्सामें जो द्रव्य पुरीषस्तम्भक हैं वे रक्तस्तम्भक नहीं भी हैं । स्पष्टतः स्रोतोदुष्टको ध्यानमें रखकर की जानेवाली चिकित्सामें दूष्यका भी मुख्य स्थान है । प्रत्येक रोगकी सम्प्राप्तिमें निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

- | | |
|-------------------------------|---------------------------------|
| १ दोष | ४ आमाशयोत्थ एवं पक्वाशयोत्थ |
| २ दूष्य | ५ प्राशुकारी एवं चिरकारी |
| ३ स्रोतस तथा स्रोतोदुष्टलक्षण | ६ अग्नि की स्थिति—(अग्निमांद्य) |

सम्प्राप्ति और चिकित्साका सम्बन्ध

चिकित्सा रोगका नाश करनेके लिए की जाती है । रोग किसी विशिष्ट स्रोतस या स्थानमें दोष दूष्य सम्मूर्च्छनाजनित हुआ करता है । रोगोत्पत्तिकी प्रक्रियाको सम्प्राप्ति कहते हैं । सम्प्राप्ति विघटन ही

चिकित्सा है। प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में दोष, दूष्य, स्रोतस तथा अग्निमांद्य का ध्यान रखते हैं और इसीलिए दोषशोधन या शमन; दूष्यों, विशेषतः रस-रक्तादि धातुओं, का पोषण; स्रोतस-अवयव-अधिष्ठान की शुद्धि (विशेषतः संग निवारण) तथा अग्नि को प्राकृत अवस्था में लाने के लिए दीपन-पाचन प्रक्रियायें ही चिकित्सा है। चिकित्सा को दोष प्रत्यनीक, व्याधि प्रत्यनीक एवं उभय प्रत्यनीक इस प्रकार भी तीन भागों में विभक्त करते हैं। जो व्याधि प्रत्यनीक है वह अधिकांश में दोष प्रत्यनीक भी रहता है, परन्तु जो दोष प्रत्यनीक है वह अल्पांशों में ही व्याधि प्रत्यनीक होता है। केवल दोष को या दूष्य को ठीक करने की अपेक्षा दोनों को ठीक करना अधिक एवं आशु-लाभकारी होने से उभय प्रत्यनीक चिकित्सा अधिक उपयुक्त है। यदि दोष दूष्य सम्मूर्च्छना प्रकृति समसमवेत प्रकार की हो तो दोष प्रत्यनीक चिकित्सा करना सरल है परन्तु यदि विकृति विषम समवेत सम्मूर्च्छना हो तो व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा अधिक सरल पड़ती है। शास्त्रों में यथा (चरक सूत्रस्थान ४ थे तथा २५ वे अध्याय में) व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा का पर्याप्त वर्णन मिलता है। रस, भस्म तथा आसव आदिका भी व्याधि प्रत्यनीकत्व ही अधिक वर्णित है। सभी व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा में दोष दूष्य सम्मूर्च्छना को तोड़ देते हैं तथा सम्मूर्च्छनाजन्य विकृति को ठीक करते हैं। कुछ औषधियाँ प्रभावित स्रोतस पर सीधा प्रभाव डालकर कुछ लाभ पहुंचाती हैं, यथा-कनकासव का श्वास (प्राणवह स्रोतस) पर प्रभाव; अहिफेन का अतिसार (पुरीषवह - स्रोतस) पर प्रभाव; अर्जुन का हृद्रोग (रसवह - स्रोतस, तन्मूल हृद्य) पर प्रभाव, शरपुंखा का यकृतवृद्धि + प्लीहावृद्धि (रक्तवह स्रोतस, तन्मूल) पर प्रभाव आदि। द्रव्यगुणशास्त्र में कई द्रव्यों का कई अवयवों या स्रोतों पर प्रभाव वर्णित है। इसे स्रोतोप्रत्यनीक चिकित्सा कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त दूष्य को निकालना या दूसरे मार्ग से प्रवृत्त करना भी एक चिकित्सा है, यथा, वातातिसार में शरीर से उदक पक्वाशय में खींचा जाता है (विमार्गगमन) और यदि श्वेत-पपटी देकर उस विमार्गगामी उदक

को मूत्रवह स्रोतस से बाहर निकाल दिया जाय तो वातातिसार शान्त हो जाता है (अतिसार-स्नातकोत्तर महानिबंध - १९६९ - बलवंत सी. भट्ट)। सम्प्राप्ति परम्परा को मूलतः छिन्न करने के लिए निदान परिवर्जन तथा दीपन-पाचन चिकित्सा की जाती है। इस प्रकार सम्प्राप्ति घटकों एवं घटनाओं को तोड़ना ही चिकित्सा है। संक्षेपतः इसे यूँ दर्शाया जा सकता है।

सम्प्राप्ति

१. निदान से दोषवृद्धि।
२. दूष्य दुष्टि / क्षय।
३. दोष दूष्य सम्मूर्च्छना।
४. स्रोतोदुष्टि।
५. रोग का अधिष्ठान।
६. अग्निमांद्य और आम।

चिकित्सा

१. निदान परिवर्जन, दोषों का शोधन / शमन (दोष प्रत्यनीक)।
२. दूष्यों को ठीक करना (दूष्य प्रत्यनीक)।
३. दोष दूष्य सम्मूर्च्छना को तोड़ना (व्याधि प्रत्यनीक)।
४. स्रोतस को ठीक करना (स्रोतः शोधन)।
५. अधिष्ठान को ठीक करना।
६. दीपन पाचन।

इस प्रकार रोग की सम्प्राप्ति का ठीक ज्ञान होनेपर ही उचित चिकित्सा की जाती है।

द्रष्टव्यस्थल

१. यथादुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता।
निवृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ अ. ह. नि. १
२. सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः। च. नि. १
३. सा संख्या प्राधान्यं विधि विकल्पं बलं कालं विशेषैर्मिद्यते। च. नि. १
४. संख्या तावदष्टौ ज्वराः, पंचगुल्माः, सप्तकुष्ठानि, इत्येवमादिः। च. नि. ३
५. समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशं बलं विकल्पो विकल्पोऽस्मिन्नर्थे। च. नि. १

६. प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते । तत्र द्वयोस्तरः, त्रिषु तमः ।
च. नि. १
७. स्वातंत्र्यं पारतंत्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् । अ. ह. नि. १
८. विधिनर्म द्विविधा व्याधयोर्निजागन्तु भेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन,
चतुर्विधाः साध्यासाध्य मृदु दारुण भेदेन । च. नि. १
९. बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालविधिं विनियतो
भवति । च. नि. १
१०. संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।
व्यक्तं भेदं च यो वेत्ति रोगाणां स भवेत् भिषक् ॥ सु. सू. २१
११. चयोवृद्धिः स्वधाम्नेव, प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ।
विपरीतगुणेच्छा च ॥ अ. ह. सू. १२
१२. संचयेऽपहृता दोषाः लभन्ते नोत्तरा गतीः ।
तेषूत्तराषु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ सु. सू. २१
१३. तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता, पीतावभासता, मन्दाष्मता
चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र
प्रथमः क्रियाकालः । सु. सू. २१
१४. कोपस्तून्मार्गांगामिता । अ. सं. सू. २०
१५. तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणम्लीकापिपासापरिदाहान्नविद्वेष
हृदयोत्प्लेदाश्च जायन्ते । तत्र द्वितीयः क्रियाकालः । सु. सू. २१
१६. एवं प्रकृपितानां प्रसरतां च वायोविमार्गांगमनाटोपौ ओषणोष
परिदाहधूमायनानि पित्तस्थ, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्च्छ्लिश्चेति
श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति । तत्र तृतीयः क्रियाकालः । सु. सू. २१
१७. कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र संगः खवैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ सु. सू. २४
१८. स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धाः भाविव्याधिप्रबोधकम् ।
दोषाः कुर्वन्ति यत्किञ्चिन् पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ च. नि. १

१९. प्रादूर्भूतलक्षणम् पुनर्लिङ्गम् । तत्र लिङ्गमाकृतिलक्षणं चिह्नं संस्थानं
व्यञ्जनं रूपमित्यनथन्तिरम् । च. नि. १
२०. पूर्वरूपं प्रागुत्पत्ति लक्षणं व्याधेः । च. नि. १
२१. अत ऊर्ध्वं व्याधेर्देशनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रंथि विद्रधि विसर्पे प्रभृतीनां
प्रव्यक्तलक्षणता, ज्वरातीसारप्रभृतीनां च, तत्र पंचमः क्रियाकालः ।
सु. सू. २१
२२. अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः । ज्वराति-
सारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः । तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ।
सु. सू. २१



७. गूढलिङ्गं व्याधिसुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्

औषध, अन्न और विहार का परिणाम में सुखकारक (रोगनिवृत्ति करने वाला) जो उपयोग हो उसको उपशय कहते हैं। इसी को सात्म्य भी कहते हैं। उपशय के ठीक विपरीत अनुपशय है। जब किसी रोग का निश्चय नहीं किया जा सकता हो, अर्थात् जब प्राप्त लक्षणों के आधार पर विभेदक निदान करने और रोग विनिश्चय करने में कठिनाई हो रही हो, तब उपशय और अनुपशय के द्वारा रोग निश्चय करने का उपदेश शास्त्रों में किया गया है। जिस रोग की शंका अधिक हो उसकी चिकित्सा (उपशय) करने पर लाभ हो जाय तो पश्चात् उस रोग का निदान पक्का करते हैं। यदि उस रोग के निदानों के सेवन से उस रोग के लक्षण बढ़ जाय तो इसे अनुपशय द्वारा रोग विनिश्चय कहेंगे। परन्तु उपशय को अधिक महत्त्व देना चाहिए क्योंकि उससे रोगशान्ति की सम्भावना तो रहती है और यदि रोगशान्ति न भी हो तो रोगवृद्धि तो नहीं ही होगी। इसीलिए उपशय ही अधिक व्यावहारिक है। रोग विनिश्चयार्थ किये जाने वाले उपयोग को उपशय और रोग विनिश्चय के बाद किये जाने वाले उपायों को चिकित्सा कहते हैं। उपशय का क्षेत्र सीमित है जब कि चिकित्सा का क्षेत्र विस्तृत है। इसी प्रकार राज्ञापराध से किया गया मिथ्या आहार-विहार निदान कहलाता है जब कि रोग विनिश्चयार्थ प्रयुक्त कराया गया मिथ्या आहार-विहार अनुपशय कहलाता है। अनुपशय का क्षेत्र सीमित है जब कि निदान का क्षेत्र विस्तृत है। पश्चात्य चिकित्सा शास्त्रोक्त therapeutic tests उपशयात्मक ही हैं, अनुपशयात्मक नहीं। उपशय के १८ भेद बताए गए हैं और ये वस्तुतः १८ प्रकार से चिकित्सा कर सकने के सूचक हैं। इन में आयुर्वेदीय चिकित्सा की व्यापकता निहित है।

उपशय के १८ भेद

(१) हेतु विपरीत औषध (२) हेतु विपरीत अन्न (३) हेतु विपरीत विहार

(४) व्याधि विपरीत औषध	(५) व्याधि विपरीत अन्न	(६) व्याधि विपरीत विहार
(७) हेतु व्याधि विपरीत औषध	(८) हेतु व्याधि विपरीत अन्न	(९) हेतु व्याधि विपरीत विहार
(१०) हेतु विपरीतार्थ-कारी औषध	(११) हेतु विपरीतार्थ-कारी अन्न	(१२) हेतु विपरीतार्थकारी विहार
(१३) व्याधि विपरीत-तार्थकारि औषध	(१४) व्याधि विपरीत-तार्थकारि अन्न	(१५) व्याधि विपरीतार्थ-कारि विहार
(१६) हेतु व्याधि विप-रीतार्थकारि औषध	(१७) हेतु व्याधि विप-रीतार्थकारि अन्न	(१८) हेतु व्याधि विपरीतार्थ-कारि विहार

चरकने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है—

“ उपशयः पुनर्हेतुव्याधि विपरीतानां विपरीतार्थकारिणां औषधाहार विहाराणा-मुपयोगः सुखानुबन्धः ” च. नि. १ । “ गूढ लिङ्गं व्याधिसुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत् (च. नि. ४) से उपशयानुपशय का क्षेत्र भी स्पष्ट कर दिया गया है। उपरोक्त १८ भेदों को सोदाहरण प्रस्तुत करने के लिए नीचे तालिका दी जा रही है।

उपयोग	औषध	अन्न	विहार
१ हेतुविपरीत	शीत कफ ज्वर में शुष्ठी-उष्ण औषध	श्रम तथा वातज ज्वर में मांस रस	दिवास्वप्न से उत्पन्न कफ में रात्रि जागरण
२ व्याधिविपरीत	अतिसार पाठा, कुष्ठ में खदिर, प्रेमह में हरिद्रा	अतिसार में स्तम्भन के लिए मसूर	उदावर्त में प्रवाहण

३ हेतु व्याधि विपरीत	वातिक शोथ में वातहरतथा शोथ- हर दशमूल	वात कफ जन्य ग्रहणी में तक्र, पित्तज में दुग्ध, शीतजन्य वातज ज्वर में पेया	स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिवास्वपन से उत्पन्न तन्दा में रुक्ष रात्रि जागरण
४ हेतु विपरीत- र्थकारी	पित्त प्रधान फोड़े पर उष्ण उपनाह का प्रयोग	पैत्तिक पिडिकामें विदाही अन्न	वातज उन्मादमें रोगी को डराना
५ व्याधि विपरी- तार्थकारी	छर्दिरोग में वमन कारक मदनफल का प्रयोग	अतिसर में विरे- चनार्थ क्षीर का प्रयोग	छर्दि में वमन कराने हेतु प्रवाहण
६ हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी	अग्नि से जल जाने पर अगुरु (उष्ण) का लेप, विषजन्य रोग में विष	मदात्यय में मद्य सेवन	उरु स्तम्भ में जल में तैरने का व्यायाम

इन प्रचलित उदाहरणों के अतिरिक्त निम्नलिखित और उदाहरण
शास्त्रों में से एकत्रित किए गए हैं—

- १ वातिक ज्वर में उष्णाभिप्रियता उपशय है । च. नि. १/२१
- २ पैत्तिक ज्वर में शीत पदार्थ उपशय है । च. नि. १/२४
- ३ कफज ज्वर में उष्ण पदार्थ उपशय है । च. नि. १/२७
- ४ 'ज्वरघ्नाः ज्वर सात्म्यत्वात् (यवागू)' उपशय है । च. नि. ३/१५३
- ५ रक्तपित्त में कबूतर, लावा, बटेर, शश आदि
का मांस हितकर (उपशय) है । च. चि. ४/४०
- ६ रक्तपित्त में 'शीतकामित्व' एक लक्षण है ।
अतः शीत पदार्थ उस में उपशय है । मु. उ. ४५/५

- ७ वातज गुल्म में गुल्मके निदानों को अनुपशय और शेष उपशय बतायें गए हैं । च. नि. ३/७
- ८ वातज गुल्म में रुक्ष, कषाय, तिक्त तथा कटुको अनुपशय बताया गया है । च. नि. ३/११
- ९ पैत्तिक गुल्म में निदान असात्म्य और निदान के विपरीत सात्म्य बताया गया है । च. नि. ३/९
- १० प्रमेह के पूर्वरूपों में 'शीतप्रियत्वम्' मिलता है (उपशय) । च. नि. ६/१३
- ११ प्रमेह के कारणों का सेवन न करने को कहा गया है (अनुपशय) । च. नि. ६/१२
- १२ अपस्मार में वातवर्धक आहार विहार असात्म्य (अनुपशय) और उससे विपरित सात्म्य (उपशय) बताया गया है । च. नि. ८/८
- १३ वातज अर्श में स्निग्ध और उष्ण उपचार उपशय है । च. नि. ८/८
- १४ पित्तज अर्श में शीतोपचार उपशय है । च. नि. ८/८
- १५ कफज अर्श में उष्णोपचार उपशय है । च. नि. ८/८
- १६ पित्तज पाण्डु में शीतोपचार उपशय है । अ. ह. नि. १३/११
- १७ तमक श्वास में बैठने पर आराम और उष्णाभि-
प्रीति उपशय है । च. चि. १८/१३
- १८ वातिक शूल में स्वेदन, अभ्यंग, मदन, स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थ उपशय है । च. चि. १८/१३
- १९ वातज कास में स्निग्ध अम्ल, लवण, एवं उष्ण अन्नपान उपशय है । च. चि. १८/१३
- २० विसर्प में निदान को अनुपशय और शेष उपशय बताया गया है । च. चि. २१/३४

- २१ हृदरोग में शब्दासहिष्णुता बताया गया है। अधिक शब्द अनुपशय है। अ. ह. नि. ५/४०
- २२ उरुस्तम्भ में स्नेहन अनुपशय और जल प्रतरण उपशय है। वमन विरेचनादि अनुपशय है। तथा माधव च. चि. २७/१६
- २३ वातरक्त में शीत या शीतप्रदेश अनुपशय है। च. चि. २९/२५
- २४ उदावर्त में प्रवाहण व्याधि विपरीत उपशय है। माधव
- २५ उदावर्त में घृतपान उपशय है। सु. सू. ३५
- २६ शोथ में विभिन्न प्रकार के आहार विहार अनुपशय हैं, यथा नवान्न, शुष्कमांस, दधि, दिवास्वप्न, मैथुन आदि। च. चि. १२/२०
- २७ वातिक शोथ में स्निग्ध एवं उष्ण तथा मर्दन उपशय है। च. सू. १८/१०
- २८ पित्ताज शोथ में शीत उपशय और स्पर्श अनुपशय है। अ. ह. नि. १३/३४

रोग विनिश्चयार्थ उपशय का विशेष प्रयोग है और अनुपशय का बहुत कम। एक रोग के उपशय दूसरे रोग के अनुपशय भी हो सकते हैं। पूर्वोक्त आधारों का सहारा लेकर अन्य उपशयानुपशय भी निश्चित किए जा सकते हैं। पूर्वोक्त उपशयानुपशय विशेषतः आहार विहार परक हैं। औषध प्रयोग से भी उपशयानुपशय सिद्ध करते हैं। मेरे विभागाध्यक्ष एवं संचालक श्री चन्द्रकान्त शुक्लाजी द्वारा प्रयुक्त उपशयानुपशय सिद्धान्त का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

आतुरालयों में प्रविष्ट कुछ रुग्ण ऐसा लक्षण सम्मुच्चय उपस्थित करते हैं जिससे अम्लपित्त और विदग्धाजीर्ण में विभेद करना तथा रोग विनिश्चय करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में शुष्ठी-१ मा., दिन में तीन बार पानी से दी जाती है। यदि लक्षणों में लाभ लगे; लक्षण कम होने लगे, तो विदग्धाजीर्ण और यदि लक्षण बढ़े या यथावत् रहे तो अम्लपित्त समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य प्रयोग भी किए जा सकते हैं।

८ रोगों के नाम और उनके भेदों का

निदान - चिकित्सात्मक महत्त्व।

तएवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।

रुजावर्ण समुत्थान स्थान संस्थान नामभिः॥ च. सू. १८/४२

दोष, दूष्य एवं स्रोतस की संख्या निश्चित होने परभी विशिष्ट लक्षण, वर्णपरक विकृति, आमाशयोत्थ / पक्वाशयोत्थ होने से, विशिष्ट वेदना विशिष्ट रोगादि विकार से रोग अपरिसंख्येय हो सकते हैं। शास्त्रों में वर्णित सामान्यज विकारों तथा उनके नामों और भेदों को देखने से ज्ञात होगा कि उनके नाम लक्षण, दूष्य, रोगाकृति तथा रोगाधिष्ठान के महत्त्व को बताते हैं और तत्तत् रोग में तत्तत् महत्त्वपूर्ण बात का चिकित्सात्मक महत्त्व भी द्योतित करते हैं।

कुछ रोगों के नाम तथा / या भेद निदान के आधार पर रखे गए हैं यथा -

- (१) साहसज - वेगधारणज - क्षयज - विषमाशनज राजयक्ष्मा।
- (२) आमजा तृष्णा - क्षयजा तृष्णा - क्षतजा तृष्णा।
- (३) भूत - पिशाच-राक्षस, देव, पितृजुष्ट उन्माद। शोकज-विषज उन्माद।
- (४) अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र - शल्याभिधातज मूत्रकृच्छ्र।
- (५) उदावर्त के भेद।
- (६) क्षतजकास - क्षयजकास।
- (७) शोकज अतिसार - भयज अतिसार।
- (८) क्षयज स्वरभेद।
- (९) दाह के भेद।
- (१०) द्विष्टार्थ संयोगज छदि।
- (११) मृत्तिका भक्षण जन्य पाण्डु।

(१२) कृमिजंछदि ।

(१४) कृमिज हृद्रोग ।

इन रोगों या रोग-भेदों के नाम से उनको उत्पन्न करने वाले विशिष्ट निदानों का भी ज्ञान हो जाता है। इन रोगों के विनिश्चय में भी इन निदानों का पता लगाने से सहायता मिलती है और चिकित्सा में निदान परिवर्जन का सर्वाधिक महत्व होता है। कुछ रोगों के भेद निदानार्थकर रोग के आधार पर बताये गये हैं, यथा क्षतजकास, क्षयज कास, कृमिजंछदि, कृमिजहृद्रोग अश्वरीज मूत्रकृच्छ्र आदि। ऐसी परिस्थितियों में उन रोगों का विनिश्चय करते समय इन निदानार्थकर रोगों का ध्यान रखना पड़ता है और मुख्य रोग के साथ साथ इन निदानार्थकर रोगों की भी चिकित्सा करनी होती है।

कुछ रोगों के नाम या प्रकार-भेद अवयव या अधिष्ठान के नाम पर रखे गये हैं, यथा—

- | | | |
|------------------|--------------------|------------------|
| (१) हृद्रोग | (२) ग्रहणी | (३) संभवात |
| (४) आमोशय गत वात | (५) यकृदाल्युदर | (६) प्लीहोदर |
| (७) गलगण्ड | (८) वस्ति कुण्डल | (९) उरुस्तम्भ |
| (१०) उरःक्षत | (११) उदर रोग | (१२) अंत्रवृद्धि |
| (१३) सिरागतवात | (१४) गूधसी | (१५) पक्षाघात |
| | (१६) योनिकन्द आदि। | |

इन सब में रोग विनिश्चयार्थ तत्तत् अवयवों/स्थानों की परीक्षा करने से ही सर्वाधिक सहायता मिलती है। चिकित्सा में इन स्थानों, स्रोतों, अवयवों या स्रोतमूलों की विशिष्ट चिकित्सा करनी पड़ती है। ये रोग उन अवयवों या स्थानों में रचना सम्बन्धी विकृति (Structural damage) भी कर देते हैं और इसीलिए इनको ठीक करवा कठिन होजाता है।

कुछ रोगों के नाम या प्रकार-भेद दूष्य के नाम पर बताए गए हैं, यथा—

- | | | | |
|---------------|------------------|--------------------|---------------------|
| (१) वातरक्त | (२) रक्तपित्त | (३) रक्तातिसार | (४) रक्तप्रवाहिका |
| (५) रक्तगुल्म | (६) रक्तार्श | (७) रक्तमेह | (८) भेदोरोय |
| (९) अर्धस्थि | (१०) मेदोज | (११) रक्तजमूच्छ्रा | (१२) रक्तज कृमि |
| | | स्वरभेद | |
| (१३) पुरीषज- | (१४) रक्तज- | (१५) मेदोजवृद्धि | (१६) मूत्रजवृद्धि |
| कृमि | वृद्धि | | |
| (१७) रक्तज- | (१८) रक्तावृद्धि | (१९) मांसावृद्धि | (२०) रक्तज मूच्छ्रा |
| | | विद्रधि | |

इन सब अवस्थाओं में दूष्य का सभी प्रकार से परीक्षण करने पर रोग विनिश्चय में सहायता मिलती है। पूर्वोक्त में रक्त की विकृति से उत्पन्न रोग या रोगावस्थायें सर्वाधिक हैं। चिकित्सा में रोग की सम्पूर्ण चिकित्सा करते समय इन दूष्यों की शुद्धयात्मक, वर्धनात्मक या स्तम्भनात्मक चिकित्सा यथा-रोग की जाती है, तभी विशेष लाभ होता है।

कुछ रोगों की आकृति, आकार, प्रकार आदि से ही रोग विनिश्चय में बहुत सहायता मिलती है — यथा — कुष्ठ, विसर्प, अर्श, भगन्दर, शोथ, शीतपित्त, उदरद, कोठ, विस्फोटक, मसूरिका, श्वेद्रोग, व्रण आदि। इन रोगों में दर्शन परीक्षा का विशेष महत्व है। रोग विनिश्चय किये जाने पर इन में व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा ही लाभ कारक है।

कुछ रोगों के भेद उनकी गति के आधार पर बताए गए हैं, यथा कामला (शाखाश्रित — कोष्ठशाखाश्रित), वातरक्त (उत्तान — गम्भीर) रक्तपित्त (ऊर्ध्वग — अधोग), अम्लपित्त (ऊर्ध्वग-अधोग)।

अधिक संख्या में रोगों के नाम प्रत्यात्म लक्षण के आधार पर और उनके भेदों के नाम दोषों के आधार पर या लक्षणों की विशेषता के आधार

पर रखे गए हैं, यथा - ज्वर, श्वास, कास, शूल, हिक्का अतिसार, प्रमेह आदि। श्वास एवं हिक्का के भेद उनके प्रत्यात्मलक्षण के प्रकारों पर रखे गए हैं, यथा - महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास आदि तथा महती हिक्का, गभीरा हिक्का। आदि। इन रोगों का विनिश्चय सभी रोगों की तरह प्रत्यात्म लक्षण तथा लक्षण समुच्चय के आधार पर किया जाता है। इनकी उभय प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

निदान-पंचक से रोगविनिश्चय (Diagnosis) में सहायता

परीक्षा दो तरह से की जाती है- रोग परीक्षा और रोगी परीक्षा। यद्यपि रोग रोगी में होता है; रोग के बिना रोगी नहीं और रोगी के बिना रोग नहीं होता; और रोग और रोगी की परीक्षा से रोग विनिश्चय-यही एक कार्य किया जाता है; अतः इन दोनों में पार्थक्य अभीष्ट नहीं हो सकता, तथापि सरलता के लिए ये दो प्रकार की परीक्षाएँ बताई गई हैं। रोग परीक्षा निदान - पूर्वरूप रूप - सम्प्राप्ति से की जाती है और रोगी परीक्षा निम्न लिखित प्रकारों से की जाती है :-

१. दर्शन - स्पर्शन - प्रश्न से (३ प्रकार),
२. पंच ज्ञानेन्द्रियों से (५ प्रकार),
३. पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं प्रश्न से (३ प्रकार),
४. नीड़ी - मूत्र - मल - जिह्वा - शब्द - स्पर्श - दृक् - आकृति (८ प्रकार),
५. प्रकृतितः- विकृतितः- सारतः- संहननतः- प्रमाणतः- सात्म्यतः- सत्वतः- देशतः- आहार शक्तितः- व्यायामशक्तितः- वयतः- कालतः (१२ प्रकार)

आतुरवेद्य तथा चिकित्सकवेद्य लक्षणों को तथा पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार की रोगी - परीक्षाओं को 'प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत लेते हैं। इन सबसे जो निष्कर्ष निकलते हैं उनसे "अमुक रोग है" ऐसा निश्चय (अनुमान) करते हैं। अनुमान के लिए पूर्वज्ञान या आधार चाहिए, अतः शास्त्रों में प्राप्त वर्णन (आप्तोपदेश) आधार बनता है। इस प्रकार रोग विनिश्चय प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश के आधार पर किया जाता है। प्रत्यक्ष को आप्तोपदेश से जोड़ने की कड़ी 'अनुमान' है और यदि यह ठीक न किया जा सकता हो या इससे कई सम्भावनाओं का संकेत होता हो तो विभेदक निदान (या व्यवच्छेदक निदान) किया जाता है। लक्षणों की समानता से व्यवच्छेदक निदान की आवश्यकता होती है और कुछ विशिष्ट प्रत्यात्म लक्षणों या परीक्षणोपलब्ध सूचनाओं से रोग विनिश्चय किया जाता है। यदि कुछ भी विशिष्ट या व्यवच्छेदक लक्षण न मिले तो उपशयानुपशय से रोगविनिश्चय किया जाता है। यदि किसी भी एक सामान्यज रोग का कुछ भी आधार न मिलता हो तो 'विकारनामा कुशलो न जिहियात कदाचन। नहि सर्व विकाराणां नामतोस्ति ध्रुवास्थितिः' इस चरकीय वाक्य का सहारा लेकर चिकित्सा दोषानुसार की जाती है।

रोग विनिश्चय में निदानपंचक का बहुत महत्व है। मात्र एक लक्षण से रोग विनिश्चय सम्भव नहीं। एक ही लक्षण कई रोगों में पूर्वरूप, लक्षण या उपद्रव के रूप में मिल सकता है, यथा—

१. पाण्डुत्व	...	४०	रोगावस्थाओं में।
२. शीत या शैत्य	...	५६	" "
३. गौरव	...	९६	" "
४. साद	...	५७	" "
५. तन्द्रा	...	४०	" "
६. निद्रा	...	३३	" "

७.	ग्रालस्य	...	२२	रोगावस्थाओं में
८.	मूर्च्छा	...	७६	" "
९.	श्वास	...	८०	" "
१०.	कास	...	७६	" "
११.	प्रसेक	...	४२	" "
१२.	हृल्लास	...	२६	" "
१३.	कण्डू	...	९२	" "
१४.	सुप्ति	...	३२	" "
१५.	अरुचि	...	१२६	" "
१६.	अविपाक	...	३२	" "
१७.	शोथ	...	१८४	" "
१८.	स्तम्भ	...	७०	" "
१९.	रौक्ष्य	...	२३	" "
२०.	तृष्णा	...	१२३	" "
२१.	दौर्बल्य	...	४०	" "
२२.	भ्रम	...	७१	" "
२३.	अंगमर्द	...	३६	" "
२४.	तोद	...	६०	" "
२५.	दाह	...	१६५	" "
२६.	अतिसार	मुख्यतः	२०	" "
२७.	हिक्का	मुख्यतः	१४	" "

उपर दिए गए कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट होजाता है कि किसी एक लक्षण के आधार पर रोग विनिश्चय सम्भव नहीं। अतः रोगके प्रत्यात्मलक्षण को लेकर एक लक्षण समुच्चय बनाना और उसके आधार पर रोग विनिश्चय करना सर्वत्र स्वीकृत परम्परा है। साथ ही विशिष्ट निदान का भी इस में महत्व है। निदानपंचक की व्यावहारिक उपयोगिता रोगविनिश्चय करने में है। इसे कुछ उदाहरणों से प्रस्तुत करेंगे और जो लक्षणादि रोगी में

प्रत्यक्षतः बहुत प्रातिशातिक में मिलते हैं और जिन निदानों को रोगी बता सकता है - उन्हीं पर विशेष जोर देंगे।

तमक श्वास

713

१. निदान - धूलि, धुवां या कम हवा वाले स्थान में रहना या काम करना।
२. पूर्वरूप - किञ्चित् श्वास कष्ट, शंख निस्तोद। शीतऋतु में श्वासकष्ट का वृत्त।
३. रूप - श्वासकष्ट का वेग के रूप में आना।

घुर्घुर शब्द युक्त श्वास (कपोत कूजनवत्)

कफ निकलने पर कुछ आराम।

गले की तथा उरस की मांस पेशियाँ खिंची हुई।

श्रवण परीक्षा से फुफ्फुसों में शूष्क, आर्द्र एवं कपोत कूजनवत् ध्वनि। चिरकारित्व।

४. उपशय - बैठकर कुछ आराम।

सोने या लेटने पर श्वास कष्ट बढजाता है।

उष्णाभिप्रीति।

५. अनुपशय - शीतल जल, शीत हवा।

गुरु भोजन, व्यायाम।

६. सम्प्राप्ति - १. दोष - वात - कफ प्रधान।

२. द्रव्य - रस

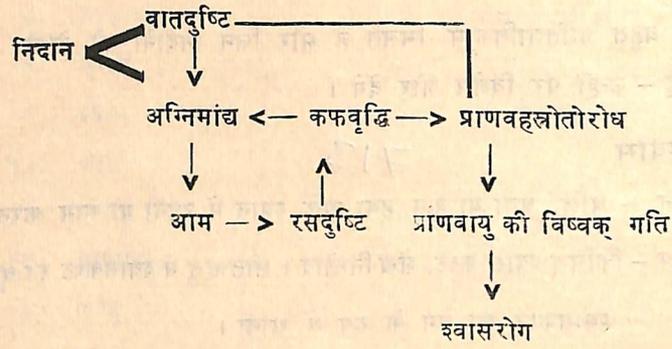
३. स्रोतस - प्राणवह स्रोतस

४. स्रोतोदुष्ट लक्षण - संग - वायु का विध्वक् व्रजन।

५. आमाशयोत्थ व्याधि है।

६. चिरकारी व्याधि है।

७. अग्निमांश - आम।



जलोदर

निदान - १. स्वतंत्र जलोदर प्रायः नहीं मिलता है अतः उसके निदान 'पंचकर्मों' के बाद सहसा शीतल जलपान' का व्यावहारिक महत्व कम हो गया है। स्वतंत्र निदान न किए जाने से ही स्वतंत्र जलोदर नहीं मिलता। फिर भी यदि ये निदान मिलें तो ध्यान में रखने चाहिए।

२. परंतु जलोदर के निदानों में निदानार्थकर रोग सम्भलित हैं, उनमें भी विशेषतः प्राणवायु की दुष्टि (हृद्रोग), अग्नि की दुष्टि (यकृत के रोग या यकृदात्युदर) तथा ग्रपानवायु की दुष्टि (वृक्कों का शोथ) अधिक महत्व रखते हैं। (प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्ति - उदरं नृणाम्)।

पूर्वरूप - इसमें आध्मान, अङ्गसाद, अरुचि तथा अजातोदकावस्था एवं पिच्छाउत्पत्ति के लक्षण सम्भलित हैं। उदर गौरव तथा उदर में सिराजाल का स्पष्ट दीखना महत्वपूर्ण है।

रूप

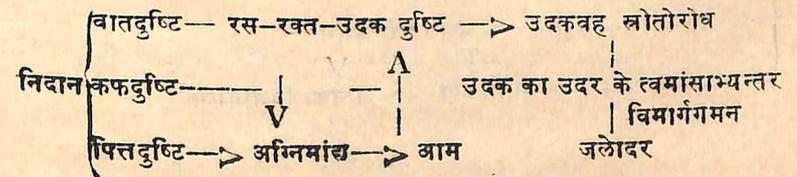
- (१) परिवृत्त नाभि।
- (२) आकोटन से उदर में दृतिवत् कम्प, शब्द एवं क्षीभ।
- (३) मूत्राल्पता।

- (४) अरुचि।
- (५) उदरोत्सेध।
- (६) यकृत, हृदय और वृक्कों की विकृतियाँ जिन्हें कई प्रकार के परीक्षणों से निश्चित किया जाता है।

उपशय - उदर के त्वग्मांसांतर्गत उदक को निकालने पर कुछ दिनों के लिए आराम रहता है। पानी बहुत कम पीना तथा मूत्रल या रेचक औषधियों से उदक को बाहर निकाल देने पर उदरोत्सेध कम होने लगता है और रोगी का आराम मिलता है। ये सब उपशय हैं।

अनुपशय - जलपान, लवण तथा उदरक्षोभ अनुपशय हैं।

१. दोष - वातप्रधान।
२. दूष्य - (रस-रक्त) उदक।
३. स्रोतस - उदकवह स्रोतस, अधिष्ठान - उदरे त्वग्मासाभ्यन्तर स्थितिः।
४. स्रोतोदुष्टि लक्षण - संग - विमार्गगमन
५. पक्वाशयोत्थ।
६. चिरकारी।
७. अग्निमांश - आम।



छदि

निदान - अजीर्ण, अत्यन्त गुरु एवं विदाही आहार ।
तीक्ष्णऔषध, कृमि का इतिहास ।
द्विष्टार्थ संयोग ।

पूर्वरूप - हृल्लास, कफ प्रसेक, उद्गार ।

रूप - आमाशय से अन्न, पित्त, कफ, उदक का मिश्रितरूप में मुख द्वारा
वेग के साथ बाहर निकलना ।
हृत् पार्श्व पीडा ।
अरुचि ।
शिरः शूल ।

उपशय - नीम्बू, लवंग, कालीमिर्च को चूसना ।

अनुपशय - छदि के सभी निदान अनुपशय हैं ।

सम्प्राप्ति - १. दोष - वात (कफ) प्रधान ।

२. द्रव्य - अन्न, रस ।

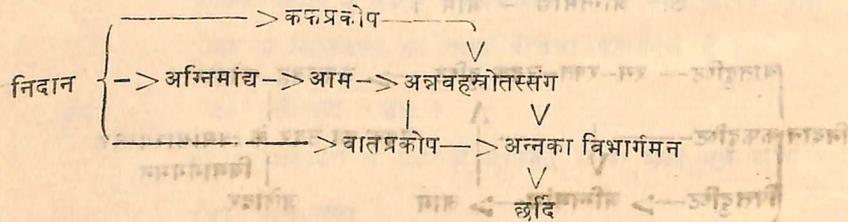
३. स्रोतस - अन्नवह, (आमाशय) ।

४. स्रोतोदुष्टि लक्षण - संग - विमार्गमन ।

५. आमाशयोत्पत्त्य ।

६. आशुकारी ।

७. अग्निमांद्य - आम ।



शोथरोग

निदान - मर्मोपघात (हृदय, यकृत एवं वृक्कों की विकृति)
धातुक्षय (यक्ष्मा, पाण्डु, ग्रहणी, अनशन, आहार सम्पदाभाव से
या विषम प्रसूति, अर्श से रक्त क्षय)
आगन्तुक कारणों में आघात, विष, कीट ।

पूर्वरूप - शोथयुक्तभाग में गुरुता एवं स्तब्धता ।
शोथयुक्तभाग में किञ्चित् उत्सेध दीखना ।

रूप - शरीर के किसी भाग पर शोथ (मुख-पाद-सर्वशरीर)
मूत्रालपता ।

शोथयुक्तभाग को दबाने पर क्षणिक गर्त पड़ना ।

अग्निमांद्य, अरुचि ।

(शोथ के निदानार्थकर रोगों की उपस्थिति में प्रत्यात्म लक्षणोंको
भी ध्यान में लेना चाहिए)

उपशय - पूर्णविश्राम, मूत्रल औषधोपचार ।

वातिक शोथ में स्निग्ध, उष्ण तथा मर्दन उपशय ।

पित्ताज शोथ में शीत उपशय है ।

अनुपशय - दधि, अम्ल, लवण, उदक का अतिपान, मैथुन ।

शोथरोग के निदानों में गिनाये गए आहार विहार ।

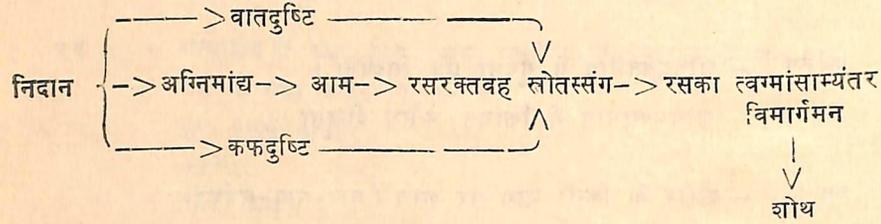
पित्ताज शोथ में स्पर्श अनुपशय है ।

सम्प्राप्ति - १. दोष - वात प्रधान

२. द्रव्य - रस - रक्त

३. स्रोतस - रस - रक्तवह (सिरा)

४. स्रोतोदुष्टि - संग - विमार्गमन
५. आमपक्ववाशयोत्थ
६. चिरकारी (आगन्तुक शोथ आशुकारी)
७. अग्निमांद्य - आम ।



मधुमेह

निदान - आस्यासुख, स्वप्नसुख, स्थूल्य, परिवार में किसी को यह व्याधि होना । मीठा अधिक रवाना ।

पूर्वरूप - हस्तपादतल दाह, पिपासा, तन्द्रा, साद और आलस्य ।

रूप - (१) प्रभूत मूत्रता; मूत्र त्याग वार वार होता है और मूत्र की २४ घण्टे की राशि भी अधिक होती है ।

(२) आबल मूत्रता - मूत्र गंदला होता है, वर्तन में कुछ देर रखने पर गंदलापन एकत्र स्पष्ट भी देख सकता है ।

(३) तृष्णाधिक्य ।

(४) बुभुक्षाधिक्य ।

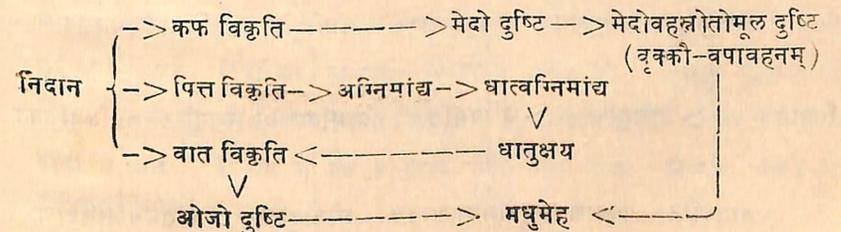
(५) मूत्र में मधुरांशों (ओज) का निकलना जिस की निश्चित मूत्र परीक्षा से की जाती है । ओज शरीरस्थ भाव है

और जबवह वायु द्वारा प्रेरित होकर रस-रक्तवह स्रोतस से मूत्रवह स्रोतस तथा वृक्कों में जाता है तब रक्त में उसकी मात्रा अधिक हो जाती है । रक्त समस्त शरीर में व्याप्त है, अतएव वाग्भट ने मधुमेह के वर्णन में 'माघुर्याच्च तनोरतः' कहा है । इसलिए रक्त परीक्षण से ओज (या शर्करा या मधुरांश) की रक्तगतराशि का परीक्षण द्वारा ज्ञान करना ही चाहिए । मधुमेह में रक्तगत शर्करावृद्धि मिलती है । यह एकदेशीयवृद्धि है ।

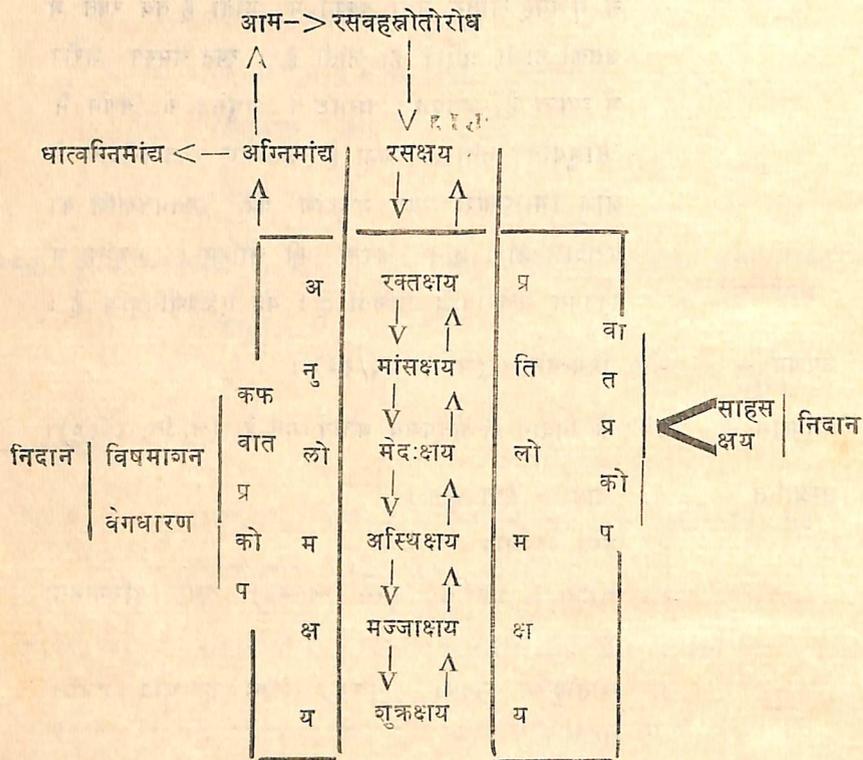
उपशय - शीत प्रियत्वम् । (च. नि. ६/१३) ।

अनुपशय - प्रमेह के निदान ही अनुपशय बताये गए हैं (च. नि. ६/१३) ।

- सम्प्राप्ति -
१. दोष - वातप्रधान ।
 २. दूष्य - ओज
 ३. स्रोतस - ओजोवह (रस-रक्तवह) तथा परिणामतः मूत्रवह स्रोतस भी ।
 ४. स्रोतोदुष्टि लक्षण - मूत्रवह स्रोतस का अति प्रवृत्ति लक्षण ।
 ५. आमपक्ववाशयोत्थ ।
 ६. चिरकारी ।
 ७. अग्निमांद्य - आम - अवरोध - ओज की एकदेशीयवृद्धि (रक्त, मूत्र में) और धातुओं में क्षय ।

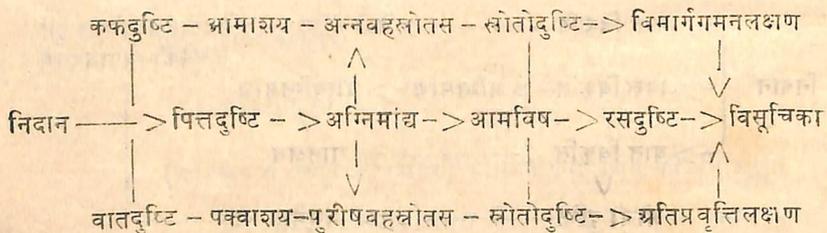


राजयक्ष्मा

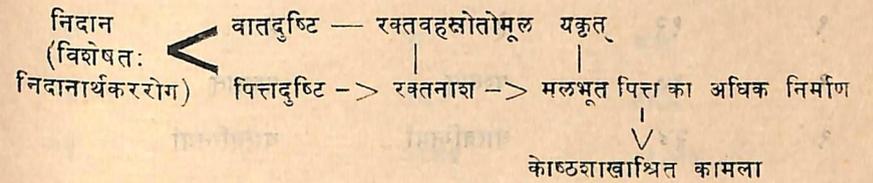
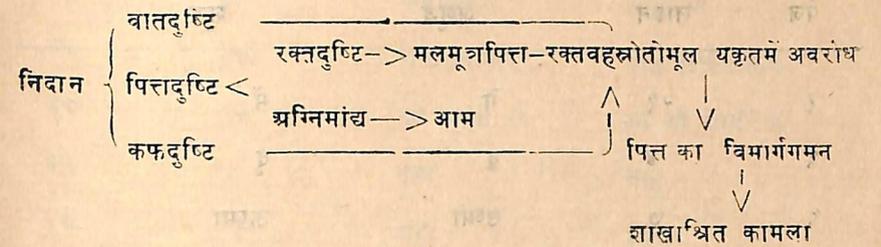


स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् ।
धातूष्मणां चापचयात् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥ च. चि. ८-४०

विसूचिका



कामला



पूर्व दिये गए विवरण में श्वास, जलोदर, छदि, शोथ तथा मधुमेह में निश्चित मिलने वाले निदान - पूर्वरूप - रूप - उपशय - सम्प्राप्ति को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करके निदान पंचक का रोगविनिश्चय में महत्व प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। निदान पंचक में सम्प्राप्ति का विशिष्ट महत्व है और विभिन्न रोगों में सम्प्राप्ति को सरलतया समझने के लिए राजयक्ष्मा, विसूचिका तथा कामला की सम्प्राप्तियों को रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है। ये उदाहरण हैं, साथ ही रेखाचित्रों में मात्र संकेत हैं, व्याख्यायें नहीं हैं। सभी रोगों का इसी पद्धति से अध्ययन किया जाना ठीक लगता है। शास्त्रों में कुछ रोगों के पूर्वरूप वर्णित नहीं हैं; कुछ के सामान्य लक्षण वर्णित नहीं हैं। कुछ में सामान्य सम्प्राप्ति का वर्णन नहीं मिलता; कुछ में आवश्यकता होने पर भी विभेदक लक्षण नहीं बताए गए हैं, आदि आदि। अतएव निदान चिकित्सा पर एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अवतक बनी हुई है जिसमें रोगों का सम्पूर्ण - सर्वांगीण वर्णन हो। प्रस्तुत पुस्तिका में निदान पंचक पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनकी शास्त्र वचनों से पुष्टि होती है अतः विश्वास है कि वे ग्राह्य होंगे और उनसे विचार करने की उत्तेजना मिलेगी।

शुद्धिपत्रक

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	२१	मे	में
९	४	द्व	द्वृ
९	७	उष्मा	ऊष्मा
९	१२	है	है
९	१७	पश्वात्	पश्चात्
९	२४	धात्वग्निर्या	धात्वग्निर्याँ
१०	१	साथ	सदा
१०	४	बनाकर	बताकर
११	१४	क्रियाः	क्रियाः
१२	५	मरुतः	मारुतः
१२	६	सस्वेद	सस्नेह
१२	१४	शब्दया	शब्दा
१५	९	विशेषश्च	×
१५	१४	आहर	आहार
१८	८	हासमनम्	हासगमनम्
२१	११	अग्निमांद्यात्पादक	अग्निमांद्योत्पादक
२४	२२	कोष्ठग्नि	कोष्ठाग्नि
३३	१३	निमित्त	निमित्ता
३७	१८	सौवीशक	सौवीरक
३८	१७	शृंगारक	शृंगाटक

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
४५	१८	अर्वाच्चीन	अर्वाचीन
४९	१७	वातश्लेष्माणः	वातपित्तश्लेष्माणः
४९	२२	को भागो में	को दो भागों में
६५	२०	वाय	वायु
६६	१	सरा	सिरा
६७	१८	पान	मान
७१	७	समभा	समभ
७१	७	सरभेद	स्वरभेद
७३	२१	सपवेत	समवेत
७४	३	औषधि य	औषधियाँ
७५	२२	विष्म	विषम
८१	११	प्रलभूत	मलभूत
८३	१०	स्रोतस	स्रोतस
८३	२२	का	या
८४	२	हा	ही
८४	२०	हृदयरोग	हृद्‌रोग
९७	३	मेदोरोय	मेदोरोग
९८	१३	रूप	रूप-उपशय
९९	१४	जिह्वात्	जिह्वायात्
१०५	१८	अनुपशय	अनुपशय

